दिव्या में स्त्री-विमर्श

एम.फिल. उपाधि हेतु, लघु शोध-प्रबंध

2001

निर्देशक :

प्रो॰ मैनेजर पाण्डे

भारतीय भाषा केन्द्र

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- 110067

शोधार्थी :

तनुजा रश्मि

भारतीय भाषा केन्द्र

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- 110067

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110067

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHAR LAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI- 110067

CENTRE FOR INDIAN LANGUAGES

DATED 20·7·2001

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled--
"DIVYA MEISTRI VIMARSH" submitted by me is original work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other university/ institution.

Sign. Rashmi.....

NAME OF THE SCHOLAR :

TANUJA RASHMI.

Sign.....
Name of supervisor:
Prof. manager pandey
CIL/SLL/CS/J.N.U.

Sign.....
Prof. manager pandey
(Chair Person)
CIL/SLL/CS/J.N.U.

GRAM : JAYENU TEL : 667676,667557 TELEX:031-73167 JNU IN FAX: 91-011-68655886

दिव्या में स्त्री विमर्श

विषय सूची

भूमिका 1

प्रथम अध्याय
बदलते सामाजिक परिवेश 4

द्वितीय अध्याय
यशपाल के कथा साहित्य में नारी 30

तृतीय अध्याय
दिव्या में बौद्ध धर्म और नारी 49

चतुर्थ अध्याय
दिव्या में स्त्री स्वाधीनता का प्रश्न 61

पंचम अध्याय
यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय का स्त्री साहित्य :
नारी संबंधी दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन 78

उपसंहार 94

भूमिका

गूंगे सुर बांसुरी के

''स्त्री-विमर्श'' बांसुरी का वह सुर है जो सदियों से ''गूंगा'' था। हमारी सामाजिक चेतना ने आज उसे स्वर ही नहीं दिया वरन् नये सुर और साज से सम्पन्न भी किया है। यही वजह है कि ''स्त्री-मुक्ति आंदोलन'' का तरन्नुम हम अपने आस-पास महसूस करते हैं। दरअसल समाज और साहित्य में अब तक हाशिये पर रही स्त्री का समाज के केन्द्र में आना, विचार गोष्ठियों और बहसों का मुद्दा बनना एक हद तक विचार के केन्द्र में आना वस्तुतः हमारे आर्थिक-सामाजिक विकास के परिणाम का ही द्योतक है।

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में भारतीय समाज में महिलाओं के विकास पर खास ध्यान दिया गया, यह और बात है कि इस क्षेत्र में सफलताएं बेहद सीमित रहीं। 1975 में महिला दशक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मना, संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रेरणा से तीसरी दुनिया के देशों के विकास में औरतों की अनिवार्य और अंतरंग भूमिका पर जोर दिया गया। बीते वर्षों में महिला मुक्ति के तमाम प्रश्न उठे, आयोग एवं कानून बने और स्त्री अस्तित्व के प्रश्नों को जिस तीखे ढंग से सामने रखा गया, यकीनन उससे बहुत दूर तक स्त्री वर्ग का तादात्म्य हुआ है।

बात उन दिनों की है जब मैं शोध-प्रबंध लिखने में व्यस्त थी अचानक ध्यान टेलीविजन के एक समाचार पर जा पहुंचा। देखकर आंखों पर विश्वास हुआ, न सुनकर कानों पर, लेकिन जो सामने था उससे कैसे इनकार किया जा सकता था। घटना थी - ''नशे में धुत्त पिता ने जब अपनी ही बेटी को वासना का शिकार बनाना चाहा तो पत्नी ने पास रखे गड़ासे (चारा काटने वाले औजार) से पति की हत्या कर दी''। एक गांव की औरत में इतनी हिम्मत । पुरुष के अत्याचार के खिलाफ आवाज उठाने की कितनी बड़ी कीमत। बेहद आश्चर्य हुआ, लेकिन मन को सकून मिला यह जानकर कि ''विधि व्यवस्था'' ने मां-बेटी के 'आत्मरक्षा' हेतु किए प्रयास को 'अपराध' न मानते हुए उन्हें बाईज्जत बरी कर दिया था। यह हमारे ठोस भारतीय यथार्थ का नया सच है नारी मुक्ति आंदोलन का स्वर अब शहर की सीमा को पार कर आंशिक रूप में ही सही गांवों में भी पहुंच रहा है, जो सुखद है। लेकिन अभी भी गांव की स्त्रियों की बुनियादी और मानवीय स्वतंत्रता हेतु जितना प्रयास करना चाहिए था, नहीं हो पाया है। विश्व भर के नारीवादी आंदोलनों के जरिये महिलाओं की मुक्ति की जिस हद तक कल्पना की गई थी ग्रामीण

महिला आज उससे कोसों दूर है लेकिन विशेषकर पढ़ी-लिखी महिलाओं में जागरूकता आई है और वे विश्व के हर कोने में पुरुष-अधीनता से मुक्ति के प्रयास में लगी है, शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया है, पर इसके बावजूद भी आज कई ऐसे समाज हैं जिनमें महिलाओं के साथ पुरुष बर्बरता से पेश आते हैं, उन्हें उपभोग की वस्तु मानते हैं। महिलाओं पर अपने वर्चस्व के दिखावे में गर्व करने वाले पुरुषों की संख्या आज भी कम नहीं है। पर यह स्थिति अगर समाप्त नहीं हुई है तो समाप्त होने की ओर अग्रसर जरूर है, और उनकी इस कल्पना को वास्तविकता में बदलने के लिए विज्ञान उनका साथ दे रहा है। एक के बाद एक वैज्ञानिक शोधों और अनुसंधानों ने यह साबित करना शुरू कर दिया है, कि शारीरिक संरचना वस्तुतः जीव वैज्ञानिक वास्तविकताओं की दृष्टि से महिलाएं किसी भी सूरत में पुरुषों से कम नहीं हैं।

दरअसल पुरुष सत्तात्मक समाज ने नारी को बौद्धिक और भावनात्मक रूप से ऐसा 'जड़' कर दिया था कि वह सामाजिक संबंधों और दायित्वों को अपने विकास से भी अधिक महत्व देने की अभ्यस्त हो गई थी। लेकिन आज की नारी 'कामायनी' की 'श्रद्धा' के साथ इड़ा बनने को भी प्रस्तुत है। वह केवल समर्पिता नहीं अधिकारमयी और तर्कशील भी है, 'दिव्या' ऐसी ही नारी की प्रतीक है, जो समाज और धर्म के बनाये उन नियमों को मानने से इनकार करती है, जो विवेक सम्मत नहीं है, जो अप्रासंगिक और अव्यवहारिक है, द्विजकन्या होते हुए वह दास-पुत्र पृथुसेन से प्रेम करती है, इतना ही नहीं उसका प्रेम मन तक सीमित नहीं रहता, शरीर में भी विस्तार पाता है। वह महादेवी के पद को भी ठुकराती है क्योंकि यह सम्मान दरअसल प्रश्रय देने वाले पुरुष का ही सम्मान है, स्त्री का नहीं। वह बौद्धभिक्षु बने पृथुसेन के 'मोक्ष' के आमंत्रण को भी अस्वीकार करती है, क्योंकि जिस धर्म में नारी त्याज्य है, वह उसके व्यक्तित्व का क्या सम्मान करता ?

दरअसल व्यक्ति, समाज और धर्म की खोखली मान्यताओं से टकराते, संघर्ष करते, दिव्या अन्ततः अपने लिए स्वयं नई जमीन तलाश करती है, जहां उसे 'वस्तु' नहीं 'व्यक्ति' का सम्मान मिलता है। इक्कीसवीं सदी की पृष्ठभूमि में जी रही नारी इसी सम्मान की आकांक्षी है।

यशपाल कृत उपन्यास ''दिव्या'' पर ऐसा नहीं है कि शोध नहीं हुआ है, लेकिन अब तक इसका 'समीक्षात्मक अध्ययन' या 'मार्क्सवादी दृष्टिकोण' पर शोध हुआ है। 'दिव्या में स्त्री विमर्श' पर अब तक दृष्टिपात नहीं किया गया है। दिव्या को जब मैंने पहली बार पढ़ा तो ऐसा लगा इतिहास के आवरण में लिपटी वर्तमान नारी ही 'दिव्या' के रूप में घुल-मिल गयी है।सब कुछ आज की तरह लेकिन कितना पुराना। फिर मन में यह भी प्रश्न उठा कि ''शोषण का सिलसिला आखिर कब तक ? कब तक संबंधों का स्वतंत्र विकास अवरूद्ध होता रहेगा ? अनेक यज्ञ प्रश्न सामने थे, बस इन प्रश्नों की खोज की

प्रक्रिया ही प्रस्तुत "लघु शोध-प्रबंध" की रूपरेखा बन गयी। प्रथम अध्याय में बदलते सामाजिक परिवेश में "नारी की सामाजिक स्थिति की चर्चा की गयी है। दूसरे अध्याय में 'यशपाल के कथा-साहित्य में नारी' का विस्तृत विवेचन यशपाल का नारी के प्रति दृष्टिकोण जानने के लिए किया गया है। तीसरे अध्याय में दिव्या में "बौद्ध धर्म और नारी" की चर्चा करते हुए बौद्ध धर्म का "नारी के प्रति दृष्टिकोण और नारी की सामाजिक स्थिति में उसके योगदान को अंकित किया गया है। चौथे अध्याय में "दिव्या में स्त्री की स्वाधीनता का प्रश्न" पर चर्चा हुई है। अंतिम अध्याय पांचवें में जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल का नारी संबंधी दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत है, अन्त में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। जिसमें खासकर दिव्या की प्रासंगिकता और प्रतिपाद्य पर संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के प्रारूप तैयार करने से लेकर लिखने तक में समय-समय पर मेरे शोध निर्देशक प्रो. मैनेजर पाण्डे का महत्वपूर्ण दिशा निर्देश मुझे मिला,उनके सद्भावपूर्ण सहयोग के लिए उन्हें धन्यवाद कहकर मैं उऋण नहीं होना चाहती हूं। इसके अलावा प्रो. एस. एन. मालाकार, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रो. गंगाप्रसाद 'विमल' चन्द्रा जी और रागिनी जी के सहयोग को नहीं भूल सकती जिनके प्रोत्साहन से शोध-प्रबंध की पृष्ठभूमि तैयार हुई है। मेरे मम्मी-पापा डा. देवेन्द्र मंडल और श्रीमति मीना मंडल जो मेरे जीवन की प्रेरणा है, उनसे मुझे गति और मति दोनों मिली है। मेरी मां जी श्रीमति देवयन्ती देवी की लगनशीलता और कर्मठता ने शोध-सामग्री एकत्रित करने और उसे क्यवस्थित करने के लिए लगातार मेहनत करने के लिए मुझे प्रेरित किया है ।

मेरे जीवन साथी ब्रजकिशोर गुप्ता का भावनात्मक सहयोग मेरे साथ सदा से रहा है, उन्होने हर वक्त मुझे 'सही सीखने' और उसके तह तक जाने को प्रेरित किया है। सही मायनों में एक शोधकर्ता की खोजी दृष्टि मुझे उन्हीं से मिली है । इसके अलावा मेरे सहपाठी अजय, पदम और धीरेन्द्र का मुझे सहयोग मिला । मेरे भाई-बहन धीरज, अनु, पूजा और देवर नन्दकिशोर गुप्ता, कौशल , पंकज, कुमार, अख्तर और शाहबुद्दीन की शुभकामनाओं से यह शोध प्रबंध पूरा हो पाया है। इस प्रकार " **दिव्या में स्त्री-विमर्श** " शीर्षक से एम. फिल. उपाधि हेतु परिक्षार्थ लघु शोध-प्रबंध, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली को प्रस्तुत करती हूं ।

शोधार्थी :
तनुजा रश्मि

प्रथम अध्याय

बदलते सामाजिक परिवेश में नारी

बदलते सामाजिक परिवेश

सभ्यता के प्रारंभ से आज तक नारी इतिहास के पृष्ठों पर उस नक्षत्र की भांति टिमटिमाती रही है, जिसकी धूमिलता और प्रखरता अप्रत्यक्ष रूप से उस सभ्यता की शिथिलता अथवा गतिशीलता का संकेत करती रही है। भारतीय स्त्री की स्थिति में आदिम युग की स्त्री की परवशता और पूर्ण विकसित समाज के नारीत्व की गरिमा का विचित्र सम्मिश्रण है। उसके प्रति समाज की श्रद्धा की मात्रा पर विचार कर उसे कोई पूर्ण सुसंस्कृत समाज का अंग ही समझ सकता है, परंतु उसके जीवन का व्यवहारिक रूप एक दूसरी ही करूण गाथा सुनाता है।[1]

मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक व्यवस्था नारी जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष की वह जीती जागती कहानी है जो सदियों से इतिहास को झकझोरती है। नारी की यह कहानी वस्तुतः किसी भी सभ्यता की कहानी है, जिसे उपेक्षित कर देने से उस सभ्यता का मूल्यांकन संभव नहीं है। हमारा अतीत समान अधिकारों से युक्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने वाली नारियों की गरिमा से मंडित रहा है किंतु मातृसत्ता से लुप्त होकर पितृसत्ता के आगमन के साथ ही स्त्रियों के दुर्दिन आ गये। समाज में आमूल चूल परिवर्तन हो गया। धनी समाज में स्त्रियों को सिर्फ भोग्या के रूप में देखा जाने लगा। "पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पति सिर्फ अपनी पत्नी ही नहीं बल्कि पुत्र पुत्री व परिवार के अन्य सदस्यों का भाग्य विधाता था, जिसकी इच्छा पर उनका जीना मरना निर्भर करता था।"[2] स्पष्ट है कि मातृसत्ता के समाप्त होते ही स्त्री का अधिकार क्षेत्र सीमित हो गया। उसे घर की चारदीवारी के अंदर बंदी बना दिया गया, अब स्वामिनी की जगह वह दासी, भोग्या और संतानोत्पत्ति का माध्यम मात्र थी। खुली वायु में सांस लेना उसके लिए श्रेयस्कर न था क्योंकि इससे नैतिकता का घोर पतन होता, समाज में अनाचार फैलता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नारी अविश्वास की पात्र बन गई। विवाह से पूर्व प्रेम करने का उसे कोई अधिकार नहीं था। विवाह और प्रेम संबंधी स्वतंत्रता की मांग गौरवहीनता थी।

अक्सर सुनने में, और पढ़ने में आता है कि प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री का दर्जा बहुत ऊंचा था, किंतु प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में नारी को भले ही कभी-कभी देवी रूप में चित्रित किया गया हो या गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी नारी पैदा हुई हों, लेकिन सामान्यता नारी को समाज में जन्म से मृत्युपर्यन्त भर्त्सना, तिरस्कार व अपमान का ही सामना करना पड़ता था।

जहां पुत्र का जन्म परिवार के लिए असीम हर्ष का कारण था, वहीं पुत्री-जन्म घोर विषाद का विषय था। एक ओर जहां भारतीय विद्वान "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र

देवता '' का दृष्टांत उपस्थित कर समाज में नारी के सम्मानपूर्ण स्थान की दुहाई देते थे वहीं दूसरी ओर '' स्त्रीक चरित्र अहसन दुर्लक्ष्य दारूण '' कहते हुए वे लेशमात्र भी संकोच नहीं करते थे। संत प्रचारकों की दृष्टि में भी नारी त्याज्य और पाप की ख़ान रही। इतना ही नहीं वेदों की सत्ता को चुनौती देने वाले, हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों की भर्त्सना करने वाले, भौतिक दुःखों का निदान ढूंढने वाले और सबके लिए मुक्ति और निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करने वाले महात्मा बुद्व के अन्तःकरण में भी नारी के लिए संवेदना नहीं थी। उनके विचार में नारी ''हत्यारे की छुरी '' अथवा ''व्याघ्र के मुख'' से भी अधिक सांघातिक थी। जातक कथा में तो यहां तक कहा गया है कि '' समुद्र, सम्राट, ब्राह्मण तथा नारी सनातन बुभुक्षित ही रहे हैं ''। उनकी इच्छाओं का शायद ही कभी अन्त हो।

भारतीय समाज में आधुनिक नारी की स्थिति और उससे जुड़े तमाम प्रश्नों की चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना समीचीन होगा कि इतिहास के पृष्ठों में स्त्रियों का कैसा चित्र अंकित है। किसी सभ्यता की सच्ची परख वहां की नारी की स्थिति व उसके इतिहास से ज्ञात होती है। किसी समाज में नारी की स्थिति उस समाज की सांस्कृतिक व बौद्धिक प्रगति को दर्शाती है। वस्तुतः समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण का एक सामाजिक महत्व है।

सभ्यता की शुरुआत से ही समाज और राष्ट्र ने मनुष्य को परिचालित किया और समाज और धर्म के परिचालक के रूप में युग-युग से पुरुष ही शासन करता रहा है। नारी को शोषित राजसत्ता और पुरुष सत्ता ने तो किया ही, लेकिन सबसे अधिक ''असम्मानित '' किया धर्म ने। नारी के स्वभाविक विकास में धर्म सदा से मुख्य बाधा रहा है। गहराई से अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि सभी धर्मों ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से स्त्री की स्वतंत्रता का हनन किया। किसी धर्म ने उसे मनुष्य का क्या दर्जा नहीं दिया, सबने वस्तु रूप में उसका उपभोग किया है। **धर्मग्रंथों** में लिखा है - '' दुनिया में सब कुछ भोग्य सामग्री है। और इसमें सर्वोत्तम भोग्य सामग्री है नेक चरित्र वाली ''स्त्री ''।

महाभारत में कहा गया है ''**न स्त्री स्वातंत्रमर्हति** '' अर्थात ''स्वतंत्रता पर स्त्री का कोई अधिकार नहीं है ''। किसी भी धर्म की आड़ में स्त्री पर किया गया अत्याचार जब असह्य हो जाता है। तब उसे थोड़ा सहने लायक बनाकर विधिनिषेध के ज़रिये नए धर्म का आह्वान किया जाता है। बौद्ध धर्म की शुरुआत में अत्याचार के हाथों से बचने के लिए लाखों स्त्रियों ने 'भिक्षुसंघ ' में आश्रय लिया था। जर्मन समाज विज्ञानी ''**आगुस्ट बेवल** '' ने अपने ग्रंथ - ''उत्तक्यान इन दि पास्ट प्रेजेण्ट एण्ड फ्यूचर '' में लिखा है कि ''ईसाईयत का आविर्भाव होने पर दूसरे बदनसीबों की तरह स्त्रियाँ भी अपनी दुर्दशा से मुक्ति पाने के लिए इस धर्म के प्रति बहुत आग्रही और आकर्षित हुई

लेकिन ईसाई धर्म भी नारी-जीवन की दुर्दशा को दूर नहीं कर पाया। इस धर्म ने भी स्त्री को पुरुष के वश में रहने के लिए बाध्य किया''। **'लेडी विद द लैम्प फलोरेंस नाइटिंगेल** ' का कहना है कि - ''जीसस क्राइस्ट ने भी स्त्री का अधिकार कहने जैसा कुछ नहीं दिया, दासी वृत्ति को छोड़कर स्त्री के लिए और कोई काम समाज और धर्म द्वारा निर्दिष्ट नहीं किया गया''। सामाजिक और धार्मिक रीति-नीति के अत्याचार से बहुत-सी स्त्रियाँ धर्मान्तरित हुईं, लेकिन उनका धर्मांतरण कुंए से निकलकर खाई में गिरना ही साबित हुआ, किसी धर्म ने स्त्री को मनुष्य का सम्मान नहीं दिया। इस्लाम धर्म ने स्त्री पर कौन सा क़हर नहीं ढ़ाया। प्राचीन काल की बात छोड़ दें तो आधुनिक युग में भी उसके शोषण का अंत नहीं हुआ है। ''**तसलीमा नसरीन** '' पर फ़तवा जारी करना इसी की मिसाल है। इस्लाम की शिकार तसलीमा नसरीन हों या चर्च की सताई ''जॉन ऑफ आर्क '' या हिन्दू धर्म की बलिवेदी पर सती होती ''**रूपकुँवर** '' इन सबकी स्वतंत्र चेतना की हत्या का प्रयास ''धर्म '' ने ही किया है।

समाज और साहित्य की भांति ही नारी और धर्म भी एक सामाजिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित रहते हैं। धर्म मनुष्य के पारिवारिक जीवन, सामाजिक कर्तव्य और प्रेम संबंधी मान्यताओं की व्यवस्था व विश्लेषण करता है। इन तीनों स्थितियों में नारी का विशेष योगदान होता है, अतः हर युग में धर्म की नवीन व्याख्या अथवा विश्लेषण से नारी का सामाजिक जीवन और उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रभावित होती आई है। युग विशेष में जब धर्म आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुआ तो समाज में लौकिक जीवन प्रायः गौण सा हो गया। उस धर्म प्राण युग में धर्म की वही भूमिका रही जो आधुनिक युग में राजनीति की है। धार्मिक अधिकारों को इतनी ऊँची दृष्टि से देखा गया कि राजनीतिक एवम् आर्थिक अधिकारों का महत्व भी इसके सामने धूमिल हो गया। व्यक्ति का समाज में स्थान उसके धार्मिक-अधिकारों के आधार पर ही निर्भर था। अतः स्त्रियों को प्राप्त होने वाले धार्मिक अधिकारों से उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक महत्व का प्रभावित होना स्वभाविक था।

बहुचर्चित विद्वान ''**जॉन स्टुवर्ट मिल** '' ने सच ही लिखा है कि -''अनुभव के आधार पर ऐसा लगता है कि सुधार की दिशा का प्रत्येक पग नारी की सामाजिक-स्थिति के सुधार में निश्चय ही एक कदम है। इतिहासविद् व दर्शन शास्त्रियों ने उनकी उन्नति को अवनति को किसी सभ्यता या किसी युग का प्रतिबिम्ब माना है। मानवइतिहास के सभी प्रगतिशील युग में नारी की स्थिति पुरुषों के लगभग समकक्ष रही है''।

हिन्दू समाज के वैदिक युग में धार्मिक अधिकारों और सामाजिक स्वतंत्रता के मामले में स्त्रियाँ सौभाग्य शालिनी रही हैं। समाज ने उन्हें, शैक्षिक, धार्मिक और

सामाजिक सभी अधिकारों से नवाजा, इसके बावजूद भारतीय संस्कृति के इतिहास में नारी के उत्थान-पतन संबंधी विविध वर्णी चित्र प्राप्त होते हैं। सामाजिक जीवन में नारी की स्थिति विरोधाभास पूर्ण थी। एक ओर जहां नारी प्रशंसा के प्रसंग मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर उनके प्रति हीन भावनाएं भी व्यक्त की गई हैं। सम्भवतः उस धर्म प्राण युग ने स्त्री को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत स्थान देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली, उसकी व्यवहारिक कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सका। मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से एश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यवहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। समाज ने उसे पुरुष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और सम्पूर्ण आत्म-समर्पण बंदी के विवश कर्तव्य के समान जान पड़ने लगा।[3]

''कहते हैं सिरजा था, जिसने हमें प्रकाण्ड पुरुष था,
इसीलिए उसने प्रवृत्ति नर में दी, स्वत्व हरण की,
और नारियों को सिरजा, उसने कुछ इस कौशल से,
हम हो जाती हैं, कृतार्थ अपने अधिकार गँवाकर।[4]

इतिहास के पृष्ठों में नारी को जो चित्र मिलता है, वह स्त्री-मन की सारी विडम्बनाओं को ही रेखांकित करता है। इतिहास में नारी के अनेक रूप हैं - युद्धक्षेत्र में वीरांगना के पद से शत्रुओं से लोहा लेती नारी, आँसुओं से आँचल भिगाती हुई नारी, पुरुष के इशारे पर नाचती नारी, गृहस्वामिनी नारी, श्वसुर-सास में पुर की लक्ष्मी नारी, धार्मिक रूढ़ियों से जकड़ी नारी, और स्वच्छन्द नारी, उसका स्थान ऊँचा-नीचा, टेढ़ा-मेढ़ा और समतल है। आर्य संस्कृति में नारी का स्थान वह है जो, किसी राष्ट्र में उसके झण्डे का होता है और शरीर में सिर का होता है। अर्थात समाज में नारी को ऊँचे -से ऊँचा पद दिया गया था तथा समाज का नेतृत्व भी उस पर था।[5]

साम्राज्येधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्येधि सम्रज्युत श्वश्रवाः।।

कहकर गृहस्थ जीवन में स्त्री को सम्माननीय स्थान दिया गया। विवाहित कन्या अपने श्वसुर घर की साम्राज्ञी के समान होती थी।[6] घरों को ''पत्नीनां सदनम्'' कहा जाता था। नारियां यज्ञोपवती धारण करती थीं, उनका उपनयन संस्कार होता था, स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा का भी समुचित प्रबंध था, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व तक वह ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं -

''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ''

अथर्ववेद का यह मंत्र कन्या के लिए ब्रह्मचर्य पालन और भिक्षा की अनिवार्यता और स्वयं इच्छानुसार पति चुनने के अधिकार को घोषित करता है। इस युग की नारियां समाज में स्वच्छन्द विचरण करती थीं, बहुधा कन्याएँ अपने प्रेमियों के साथ घूमती हुई दिखाई गई हैं। *निश्चय ही प्रेम व विवाह की स्वतंत्रता देने वाला समाज रूढ़िमुक्त समाज* होगा क्योंकि रूढ़ियुक्त समाज में प्रेम संभव नहीं है।

शैक्षिक स्वतंत्रता के लिए कन्याओं का उपनयन संस्कार और वैवाहिक स्वतंत्रता के लिए ''स्वयंवर '' का प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि स्त्रियों को पर्याप्त स्वतंत्रता दी *गयी। इतना ही नहीं - धार्मिक जीवन में भी स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान का प्रमाण* जगह-जगह प्राप्त होता है। सामवेद की ऋचाएँ तो सिर्फ़ स्त्रियाँ ही गाती थीं। यज्ञ और दैनिक धार्मिक क्रियाओं में स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर ही भाग लेती थीं, पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा समझा जाता था। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं था। सीता की *स्वर्णमयी प्रतिमा स्थापित कर, राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करना इसी का प्रमाण है।*

विद्वानों की दृढ़ मान्यता है कि इस युग में सती प्रथा का अस्तित्व नहीं था। वैदिक समाज में विधवा स्त्री के लिए जीने के अनेक रास्ते थे। वह वैधव्य जीवन व्यतीत कर सकती थी या ''नियोग प्रथा '' के अंतर्गत यौन संबंध स्थापित कर पुत्र प्राप्त कर सकती थी या विवाह संबंध स्थापित कर नए सिरे से जीवन शुरू कर सकती थी।[7]

निरुक्त में **यास्क** ने यह स्पष्ट किया है कि 'पुत्र ' न होने पर पिता की संपत्ति की उत्तराधिकारी 'पुत्री ' को ही माना जाएगा।[8] हिन्दू समाज के वैदिक युग में सार्वजनिक उत्सवों में स्त्रियों की उपस्थिति, घूमने-फिरने की स्वतंत्रता, शिक्षा का *अधिकार, जीवनसाथी चुनने की स्वतंत्रता इस बात का संकेत करती है कि तत्कालीन* समाज की नारी आर्थिक स्वातंत्र्य के साथ-साथ विचारस्वातंत्र्य के अधिकारों का उपभोग कर अपनी वैयक्तिकता के प्रति जागृत रहीं।

समाज में धार्मिक कृत्यों से लेकर राजनीति तक में नारी के समानाधिकार तथा सम्मान की भावना को प्रतिष्ठित किया गया। पर यह जानकर आश्चर्य होगा कि माता, पुत्री तथा पत्नी सभी रूपों में इतनी पूज्य और स्नेहपात्र इस काल की नारी को *किसी प्रकार का साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इतना ही नहीं मानव जाति के* अधिकांश सभ्य-समाजों के प्राचीनतम इतिहास से लेकर पिछली शताब्दी तक के इतिहास का अवलोकन करें तो ज्ञात होगा कि उनकी स्त्रियों को सम्पत्ति पर किसी प्रकार का स्वामित्व प्राप्त नहीं था। वैदिक समाज के तथाकथित पितृसत्तात्मक व्यवस्थान्तर्गत स्त्रियों *को जहां एक ओर अन्य देशों की तुलना में अधिक अधिकार व सम्मान दिया गया, वहीं*

दूसरी ओर उनके प्रति हीन भावनाएँ व्यक्त करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी गयी है। ऋग्वेद में कहा गया है कि "स्त्रियाँ अपने मन पर अधिकार नहीं रख सकती हैं"।[9] उर्वशी-पुरूरवा संवाद में एक स्थान पर उर्वशी-पुरुरवा से कहती है - "स्त्रियाँ भेड़ियों के समान हैं, जो विश्वास जमाकर पुरुषों का वध कर देती हैं"।[10] इन सब बातों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में भी नारी अधिकारों को सीमित रखा गया, वैदिक समाज की नारी की स्थिति अन्तः विरोधाभास पूर्ण ही थी। फिर भी कुछ अपवादों को छोड़कर पितृसत्ता की मर्यादाओं में रहते हुए, स्त्री को जितने अधिकार दिए जा सकते थे, वे सब वैदिक युग में दिए गए थे, परंतु जैसे-जैसे आचार धर्म बढ़ने लगा, व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा दृढ़ होती गई, पुत्र प्राप्ति की महत्ता और कामना बढ़ने लगी वैसे ही बहु-पत्नीत्व एवम् बालविवाह जैसी कुरीतियों की परम्परा भी विकसित होती गई।

नारी की सम्मानजनक स्थिति ईसा पूर्व 500 तक चलती रही। इस काल तक वह वेदाध्ययन करती थी तथा विवाह के लिए वर का चुनाव करते समय वह अपनी रुची-अरुचि दिखा सकती थी। धार्मिक और सामाजिक कृत्यों में भी वह स्वतंत्र थी तथा वैवाहिक-जीवन में उसे प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त था किन्तु नारी की यह श्लाध्य स्थिति अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। प्राचीनकाल में नारी को जिस उच्च और पवित्र भाव से देखा जाता था, वो शिथिल पड़ने लगा था। पुरुष की स्त्री के प्रति वह दृष्टि जिसका परिणाम देश तथा समाज के लिए कल्याणकारी हुआ था अब विपरीत दिशा में बदलने लगी। नारी अब भी दिव्य गुणों से युक्त थी पर उसकी दुर्बलता जो पहले नारी-गुण बनी हुई थी वे ही अब दुर्गुण में परिणत हो गया था।

वैदिक काल के बाद का समय विस्तार बहुत लम्बा है। आदिकालीन समाज में दिखाई पड़ने वाली सामाजिक गति क्रमशः कम होती गई। स्मृतिकार मनु ने इस काल में हिन्दू समाज के लिए नियमों का ऐसा लौह ढांचा बनाकर स्थापित कर दिया जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अटल रहा। वैदिक और पूर्व वैदिक काल की सर्व-सम्मानित विदुषी नारी की स्वतंत्रता और अधिकार को सीमित कर दिया गया। शैक्षिक अधिकार का स्त्रोत ~~उपनयन संस्कार~~ का द्वार नारियों के लिए बंद कर दिया गया। वैदिक युग के बाद से ही ब्राह्मण ग्रंथों में वैदिक क्रियाकलापों में इतनी वृद्धि कर दी थी कि इनके उपयुक्त ज्ञान के लिए कम से कम बाईस-चौबीस वर्ष की आयु तक अध्ययन करना आवश्यक था, परिणामस्वरूप उपनयन संस्कार बिना किसी विषम परिस्थिति के साधारण अवस्था में भी उपेक्षित होने लगा।

"**स्त्रीशूद्रो नाधीयाताम्**" के प्रबल प्रचार की परिस्थिति में वेदाध्ययन का तो प्रश्न ही नहीं रह गया था। वैदिक ज्ञान के अभाव में अब धार्मिक कार्यों में स्त्री की उपस्थिति मात्र होती थी। कुछ धर्म-प्रणेताओं को तो उनकी उपस्थिति भी खटकने लगी

थी। "**अतिसायण** " आदि कुछ धर्म-प्रणेताओं ने यज्ञ में स्त्रियों की औपचारिक उपस्थिति को आवश्यक नहीं समझा। यज्ञों में जो धार्मिक अनुष्ठान पहले स्त्रियाँ करती थीं, धीरे-धीरे वे पुरोहितों के अधिकार में आ गया। जिस हवि (अग्नीघ्र) को पहले पत्नी तैयार करती थी जब पुरोहित करने लगे।[11]

पति-पत्नी द्वारा किया जाने वाला साधारण यज्ञ कृत्य को अब पुरोहितों ने इतना आडम्बरपूर्ण और जटिल कर दिया कि अब उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहितों के बिना वह असंभव हो गया। गर्भाधान से चूड़ाकरण पर्यन्त समस्त संस्कारों का वर्णन करते हुए मनु के परवर्ती स्मृतिकार **याज्ञवलक्य** ने लिखा है कि - " ये सारे संस्कार कन्याओं में भी ज्यों के त्यों किए जाएं किन्तु इनमें वैदिक मंत्रोच्चारण न किया जाये "।

ईसा के 300 वर्ष पूर्व के ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि कन्या के लिए विवाह अनिवार्य कर दिया गया। उपनयन संस्कार का समावेश अब विवाह विधि में ही कर लिया गया।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणं संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रियाः।।

अर्थात उपनयन संस्कार का प्रयोजन अब विवाह विधि द्वारा सिद्ध हो जाता है, पति सेवा गुरु सेवा के समान है और गृहस्थी का कार्य यज्ञ के समान है।[12] अतः स्त्रियों को न तो अन्य किसी धार्मिक कार्य की आवश्यकता है न अध्ययन की।

"अपितना तू नारीणा, मद्यप्रभूति पातकम् "

विवाह विधि के उपनयन संस्कार में समावेश करने के उपरांत ऐसी भावना समाज में व्याप्त हो गयी कि "अविवाहित रहना पाप है। " विवाह की आयुसीमा कम करने का प्रयास होना लगा और विवाह अनिवार्य हो गया। "नियोग प्रथा " का स्वरूप भी बदल गया अब नियोग द्वारा सिर्फ़ एक पुत्र प्राप्त किया जा सकता था। विधवाविवाह संबंधी प्रश्न पर संकीर्ण दृष्टिकोण होने लगा था। जनता की धार्मिक भावनाओं से खेलकर धर्म संरक्षकों ने उन सामाजिक नियमों का निर्माण कर दिया था जिनके परिणामस्वरूप समाज की आदर्श व्यवस्था विश्रृंखलित हो गई। नारी का स्थान समाज में गौण हो गया। बहुविवाह, बालविवाह, सतीप्रथा और अशिक्षा आदि नारीविषयक कुप्रथाएं समाज में प्रचलित होने लगीं। शिक्षा और ज्ञान के अभाव में वास्तविक आदर्श की भावना लुप्त हो गई, अंधविश्वासों और कुरीतियों को बल मिलने लगा। वैदिक युग में रानी के पद पर

प्रतिष्ठित नारी निरंतर अपने सामाजिक स्तर से पतित होते हुए दासी की श्रेणी तक पहुंचा दी गयी। युधिष्ठिर का द्रौपदी को दांव पर लगाना, हरिश्चन्द्र का पत्नी विक्रय करना, धृतराष्ट्र द्वारा सौ दासियों का दान करना 13 इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारतीय समाज में नारी चल सम्पत्ति समान थी।

तैत्तिरीय संहिता के वचन - '' तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायदाः '' [14]

का प्रमाण देकर सर्वप्रथम बौधायन ने - '' न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हित ''

की व्याख्या द्वारा नारी को दायाधिकारों से वंचित घोषित किया - ''न दायं निरिन्द्रिया ह्रयदायाश्च स्त्रियोमाता हति श्रुतिः '' । [15] मनुस्मृति में भी इसी वचन का अनुकरण किया गया।

बौधायन की इस व्यवस्था का जीभूतवाहन; अवरार्क; देवष्णभट्ट; मित्रमिश्र आदि मध्यकालीन निबंधकारों ने बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया ।[16] व्यवहारसार [17] और विवादसारचन्द्र [18] ने तो यहां तक व्यवस्था दी है कि पत्नी या माता किसी भी स्त्री को पैतृक सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। मनुस्मृति में अपना मत प्रगट करते हुए मनु ने कहा है कि - स्त्री, पुत्र तथा दास ये तीनों सदा सम्पत्तिविहीन ही होते हैं, ये जो कुछ उपार्जन करते हैं वह उसका होता है, जिसके ये अधीन होते हैं।

भार्या, पुत्रश्च, दासश्च त्रय एवाधनाः ।
स्मृताः यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यते तस्य तद्धनम् ।। [19]

फिर भी समस्त विषमताओं के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण विकास जो नारियों के पक्ष में हुआ वह था उनके धनाधिकारों में वृद्धि। वैदिक युग की नारी किसी भी प्रकार के धनाधिकार की अधिकारिणी नहीं थी परंतु स्मृतिकारों ने स्त्रियों की असहायता को पहचानते हुए विधवा के लिए उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार सुरक्षित किए। यह व्यवस्था विशेष रूप से पुत्र हीन विधवा की सम्पत्ति के लोभ ने पुरुष को शैतान बना दिया। ऐसी विधवा स्त्री को बलपूर्वक सती होने के लिए बाध्य किया जाने लगा ताकि वह उनकी सम्पत्ति हासिल कर सकें।

इस युग में जो सबसे बड़ा परिवर्तन स्त्री की स्थिति में हुआ, उसके कार्यक्षेत्र का सीमित हो जाना था। स्त्री की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सब प्रकार की उन्नति को रोक कर उसे घर तक सीमित कर दिया गया। इस प्रकार हिन्दू समाज का आधा अंग निष्क्रिय सा हो गया, वस्तुतः स्त्री की इस स्थिति का व्यापक प्रभाव पुरुष की स्थिति पर भी पड़ा। विवाह योग्य वय में समानता लाने के लिए लड़कों का सोलह-सत्रह वर्ष या इससे कम वय में ही विवाह होने लगा परिणामस्वरुप उनकी शिक्षा

को भारी आघात पहुंचा। अज्ञानता के अंधकार में समाज का प्रतिनिधित्व ढोंगी पण्डितों के हाथों में चला गया।

ब्राह्मण ग्रंथ जिन्हें मानव जाति का प्राचीन धर्मग्रंथ कहा जाता है, तत्कालीन नारी की सामाजिक स्थिति का भी दर्पण है। **ऐतरेय ब्राह्मण** के अन्तर्गत नारी को ''भारी अनर्थ की जड़ '' और परिवार में कन्या का जन्म दुःखदायी माना गया है ''। [20] **ऐतरेय ब्राह्मण** के अनुसार - ''एक पुरुष कई पत्नियां रख सकता था लेकिन पत्नी एकाधिक पति नहीं रख सकती थी, स्त्रियों पर पतिव्रत आदर्श को वफ़ादारी से निभाने का एकतरफ़ा दायित्व था। पतिव्रत्य का पालन उनका धर्म था, चाहे पति अयोग्य, वृद्ध, अन्धा, बहरा, लंगड़ा-लूला, दुराचारी धनहीन कुछ भी हो, हां इस युग में माता का *गौरव अवश्य था। उसका स्थान आचार्य से भी श्रेष्ठ माना जाता था। पुत्र के लिए माता* का भरण-पोषण नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था।

ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात् उपनिषदों द्वारा नारी-भावना का बोध होता है। तत्कालीन युग में यद्यपि पुत्र-पुत्रियों से श्रेष्ठ माने जाते थे, फिर भी कन्या को विदुषी बनाने का *प्रचलन था। कन्याएं ब्रह्मचर्यपूर्वक धर्म शास्त्रों का अध्ययन करती थीं।* इतना होने पर भी वैदिक युग में नारी को जो गौरव प्राप्त था, वह शनैः शनैः क्षीण होने लगा था।

पुराणों का जहां हमारे धार्मिक साहित्य के रूप में बड़ा महत्व है, वहीं इनका अवलोकन अन्य विषयों के साथ नारी संबंध में भी पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराता है। इस युग में पुत्र की अपेक्षा संतान रूप में पुत्री की कामना की जाती थी। कन्याएं गंभीर अध्ययन करती थीं। उनका विवाह भी स्वयंवर पद्धति से सम्पन्न होता था। **''पद्म-पुराण** '' में उस स्त्री को पतिव्रता कहा गया है, जो दासी के समान गृह-कार्य करे, वेश्या के *समान रतिकला में निपुण हो, माता के समान परिवार का पालन करे और विपत्ति काल में* मंत्री की भांति परामर्श प्रदान करे। [21]

''स्कन्द पुराण'' में नारी के पतिव्रत्य धर्मों का उल्लेख मिलता है । [22] **'ब्रह्मवैवर्त'** तथा **'विष्णु पुराण'** में भी सती नारी का उल्लेख और माहात्म्य सिद्ध किया गया है। ब्रह्मपुराण में तो चार वर्ष की आयु विवाह के लिए उपयुक्त मानी गई है। तत्कालीन युग में गृहस्थाश्रम का महत्व एवं मूल्य अधिक आंका जाता था। स्त्रियों के लिए अविवाहित रहना प्रायः असंभव था। उस युग की सामाजिक रूढ़ि, परम्परा और धर्म तीनों स्त्रियों के सामने *गृहस्थाश्रम को ही एक आदर्श रूप में प्रस्तुत करते थे। गृहस्थ जीवन में पतिव्रता स्त्री को* एक आदर्श के रूप में चित्रित किया जाता था। स्त्री के लिए भगवद्भजन निरर्थक माना गया है; पति ही उसका परमेश्वर है। जो सर्व सुख शांति ईश्वर की अराधना से प्राप्त हो सकती है, वही उपलब्धियां पतिपूजा से प्राप्त होती हैं ।[23]

जाहिर है जो समाज स्त्रियों के लिए अल्पायु में विवाह, पतिव्रत्य धर्म का

पालन और सतीत्व का आदर्श प्रस्तुत करता हो वहां स्त्री-शिक्षा और पुनर्विवाह की संभावना कहां रह जाती है। पुराण युग के पूर्व शास्त्रकारों की बाल-विधवाओं के प्रति उदार दृष्टि थी, परंतु इस काल में दृष्टि की उदारता और कोमलता दोनों अदृश्य हो गईं।

पुराण युग तथा उसके बाद के समय में, विदेशी आक्रमण के कारण शांति और सुरक्षा घटने लगी, अतः स्त्रियों की स्वतंत्रता पर अंकुश लगा दिया गया। भय और सुरक्षा की भावना से पर्दे की प्रथा को समाज में प्रवेश दिलाया गया, राजपरिवारों, अमीर-उमरावों तथा जागीरदार वर्ग में पर्दा स्थाई रिवाज बन गया और स्त्रियों को घर की चाहरदीवारी के अंदर बंदी बना दिया गया। अपनी शक्ति को भूल वह अशिक्षित रहकर पर्दे की दुनिया में बंद हो गई। शिक्षा का अभाव, बाल-विवाह के प्रचार तथा विभिन्न रीति-रिवाजों द्वारा स्त्री-जीवन को एक संकुचित परिधि में सीमित कर दिया गया। अनेक आख्यानों और कथाओं को व्रत उपवास के साथ गूंथ दिया गया, अब स्त्री के लिए घरेलू जीवन और बच्चों के पालन-पोषण के अतिरिक्त कोई काम नहीं था।

रामायण, **महाभारत** और **गीता** जैसे वर्ण व्यवस्था के पोषक धार्मिक ग्रंथों द्वारा भी समाज का जो चित्र उभरकर सामने आता है, उसमें नारी को कहीं भी ''मनुष्य'' नहीं समझा गया। रामायण की सीता को मात्र पुरुष की अनुगामिनी और आज्ञाकारिणी रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। रामायण में राम ने भी सीता को वस्तु रूप में इस्तेमाल किया। लक्ष्मण को बाण लगने पर राम का यह विलाप इसका सजीव उदाहरण है-

जहऊँ अबध कबन, मुख लाई, नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई।
बर अपजस सहतेउ जग माहीं, नारि-हानि विशेष, छति नाहीं।। [24]

नारी-हानि विशेष क्षति नहीं है, यह कथन नारी के प्रति पुरूषोत्तम राम के दृष्टिकोण को ही ध्वनित करता है। रामायण में राम नारदमुनि से नारी के कामिनी रूप की निंदा करते हुए कहते हैं - हे मुनि सुनो, पुराण श्रुति और संत कहते हैं कि ''नारी मोह रूपी बसंत है। वह जप तप और नियम आदि के जलाशयों को ग्रीष्म ऋतु बनकर सोख लेती है। नारी घोर अंधकार रूपी रात्रि है, जिसमें पाप के उलूक बोलते हैं। बुद्धि, बल, शील रूपी मछलियों को पकड़ने के लिए नारी वंशी के समान है । [25] इतना ही नहीं रामायण में यह भी कहा गया है जब नारी कामासक्त होती है तो अपना विवेक खो बैठती है। उस वक्त वह यह भी नहीं देखती कि वह पुरुष कौन है, भाई, पिता या पुत्र। [26]

दीप-शिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग
भजहु राम तजि काम मद, करहु सदा सत्संग।। [27]

अर्थात नारी दीप-शिखा है और नर पतंग, स्त्री को पुरुष का घोर शत्रु बतलाते हुए कहा गया है कि '' नारी मनुष्य की घोर शत्रु और साक्षात मृत्यु है ''। जन्म पत्रिका में कहा गया है कि '' भार्या-स्थान, शत्रु-स्थान और मृत्यु स्थान के बीच होता है ''। [28]

पुरुष शासित समाज ने सीता को न तो योग्य सम्मान दिया न आश्रय। जिस सीता को अग्नि, वायु तक ने पवित्रता का प्रमाण दिया, उस सीता को राम ने अग्निपरीक्षा द्वारा ही ग्रहण किया, पुनः प्रजा का संदेह दूर करने के लिए वाल्मिकी ने पुनः अग्नि परीक्षा देने की बात कही। यह व्यवस्था की ही देन है अन्यथा ऐसी पवित्रता की परीक्षा सीता द्वारा भी राम की ली जा सकती थी। पूरे रामायण में सीता को कहीं भी मनुष्य की मर्यादा नहीं मिली, ऐसा प्रतीत होता है कि जीवित रहने पर सीता को जीवन भर अग्निपरीक्षा से ही गुजरना पड़ता शायद इसीलिए सीता ने अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए, सारे असत्य, अन्याय और आत्मसम्मान से पलायन करते हुए अन्ततः पृथ्वी से आश्रय की मांग की, किसी पुरुष से नहीं।

महाभारत में भी कैसा विचित्र संयोग था, अर्जुन द्वारा जीती हुई द्रौपदी जब पांचों पाण्डव साथ लेकर कुन्ती के पास लौटते हैं तो कुन्ती के मुंह से निकले वचन ''पांचों बांट लो'' द्रोपदी के जीवन की त्रासदी बन गयी, मजबूरन उसे पांच पतियों की पत्नी बनना पड़ा जबकि पाण्डवों ने अपना-अपना दूसरा विवाह भी किया। कितनी आश्चर्य की बात है कि धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर तक ने स्त्री को वस्तु रूप में इस्तेमाल किया और अपनी ही पत्नी को जुए के दांव पर लगा आये ''स्त्री धन'' के रूप में। युधिष्ठिर ने स्त्री को चल - सम्पत्ति की तरह इस्तेमाल किया ऐसा हादसा पुरुषों के साथ कभी नहीं हुआ वरना युधिष्ठिर पत्नी की जगह भाई का उपयोग कर सकते थे।

महाप्रतापी भीष्मपितामह, गुरूद्रोणाचार्य, कृपाचार्य, हस्तिनापुर महाराजाधिराज - धृतराष्ट्र, नीति निपुण विदुर जैसे महारथियों की सभा में एक नारी के साथ घृणित, लज्जास्पद कृत्य हुआ पर किसी पुरुष ने इसका विरोध नहीं किया। पांच-पांच वीर पति भी एक पत्नी के आत्मसम्मान की रक्षा में असफल रहे। अन्ततः अपने आत्मसम्मान की रक्षा द्रोपदी ने स्वयम् की, की भगवान की शरण में।

दरअसल रामायण और महाभारत की सारी घटनाएं यह साबित करती हैं कि स्वतंत्रता पर स्त्री का कोई अधिकार नहीं है। भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा -''नारी से बढ़कर अशुभ और कुछ भी नहीं है ''। नारी के प्रति पुरुष के मन में कोई संदेह या ममता उचित नहीं है (12/40/1)। पिछले जन्म के पाप के कारण इस जन्म में नारी जन्म होता है (6/33/32) स्त्री सांप की तरह है इसीलिए पुरुष को कभी उसका विश्वास नहीं करना चाहिए (5/37/29) त्रिभुवन में ऐसी कोई नारी नहीं है जो स्वतंत्रता पाने योग्य हो (12/20/20) ''जो छः वस्तुएं एक क्षण की असतर्कता से भी नष्ट हो जाती हैं वे हैं -

गर्भ, सैन्य, कृषि, स्त्री, विद्या एवं शूद्र के साथ संबंध (5/33/90)"

स्त्री का शिक्षा और संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वह व्यक्ति नहीं वस्तु है और वह भी भोग्य है इसीलिए घोड़े, हाथी, रथ, भूमि आदि के साथ स्त्री को भी दान की सूची में शामिल किया गया है। यह दान, विवाह, श्राद्ध, विजयोत्सव, अतिथि-सत्कार, यज्ञ तथा कई सामाजिक अनुष्ठानों में दिया जाता है।

महाभारत में भीष्म पितामह एक स्थान पर युधिष्ठिर से कहते हैं कि -"आदिकाल में पुरुष इतना धर्मपरायण था कि उसे देखकर देवताओं को ईर्ष्या हुई, तब उन्होंने नारी की सृष्टि की पुरुष को प्रलुब्ध करके उसे धर्मच्युत करने के लिए (13/42) "

"स्त्री केवल अमंगल है" ऐसा सामाजिक विश्वास प्रचारित करने का दायित्व **"महाभारत"** ने किया - "जो स्त्री पति के अलावा चन्द्र, सूर्य या वृक्ष का भी दर्शन कर ले वह अधर्मचारिणी है (12/146/88) "परतंत्रता और बंधन की पराकाष्ठा ही है कि पुरुष ही नहीं प्राकृतिक वस्तुएं हवा और रोशनी भी स्त्री–शरीर में न लगे, ऐसे शास्त्रीय विधान को धर्म के ठेकेदारों ने स्त्री के लिए निर्मित किया। परन्तु अनेक विषमताओं के बावजूद भी रामायण और महाभारत दोनों धार्मिक ग्रंथों में स्त्री के पक्ष में कई प्रशंसनीय बातें हैं। रामायण काल में विधवा-विवाह की अनुमति थी। सती होना भी अनिवार्य नहीं था, राजा दशरथ की मृत्यु उपरांत एक भी रानी सती नहीं हुई थी।

महाभारत में भी माता की बड़ी प्रशंसा की गयी है -

"नास्ति मातृ समा छाया नास्ति मातृ समा गतिः।
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृ समा प्रिया। [29]
"नास्ति सत्यातत्वरोधर्मो नास्ति मातृ समो गुरू। [30]

कहकर समाज में माता को सम्माननीय स्थान दिया गया। प्रायः ई. सन 800 तक बलात् उठाकर ले जाई गई सब स्त्रियों को परिवार में पुनः प्रवेश की सुविधा व स्वीकृति थी किन्तु सन् 1000 ई. के पश्चात् इस क्षेत्र में भी हिन्दू समाज की क्रूरता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

अलबेरूनी का कहना है कि उन स्त्रियों या पुरुषों को जिनका बलात् हरण किया जाता था, समाज पुनः स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना है कि यदि हाथ मैले, गंदे हो जाएं तो धोना चाहिए न कि काटकर फेंक देना चाहिए। " [31]

पुराण काल तथा उसके बाद का काल विस्तार 1300 वर्षों का था। इस अवधि के मूल्यांकन से यही स्पष्ट होता है कि वेदकालीन स्त्री स्वातंत्र्य तथा उसके प्रभाव का

अंत हो चुका था। मुसलमानों का पहला आक्रमण भारत पर आठवीं शताब्दी में हुआ और उसी समय शंकाराचार्य ने वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना करने का भगीरथ प्रयास आरंभ किया और ज्ञान की महत्ता बढ़ाई साथ ही यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि स्त्रियों तथा दलितों के वर्ण अधिकारों को सीमित करने की पृष्ठभूमि भी तैयार की।ग्यारहवीं शताब्दी में मुहम्मद गजनवी के आक्रमण से भारत में मुस्लिम सत्ता का प्रारंभ हुआ। इस काल में विदेशी आक्रमणों के कारण धर्मांतरण का भय भी हिन्दू धर्माचार्यों को सताने लगा था, क्योंकि इस्लाम धर्म में वर्ण या जाति जैसी प्रथा अस्तित्व में नहीं थी। यह संभावित था कि हिन्दू समाज के अनधिकृत वर्ग धर्मांतरण द्वारा अपनी दीन-हीन दशा से छुटकारा पाने का प्रयत्न करे। व्यापक धर्मांतरण को रोकने का एक मार्ग था हिन्दू समाज को और रूढ़िग्रस्त बनाना और दूसरा विकल्प था कि हिन्दू समाज की जटिलताओं को कम कर उसे लचीला बनाया जाये।

रूढ़िवादियों ने टीकाकारों द्वारा धर्मग्रंथों का विशाल एवं उदार अर्थ करवाकर सामाजिक व्यवस्था के जटिल बंधनों को ढीला करने का प्रयास किया। जिस प्रकार सूत्रकाल में आचार धर्म की जटिलताओं को कम करने का कार्य बौद्धधर्म ने किया, उसी प्रकार पुराणकाल की संकीर्णता और गतिहीनता पर टीकाकारों ने प्रहार किया।

धार्मिक ग्रंथों का विस्तृत एवं उदार अर्थ लगाकर कानूनी दृष्टि से स्त्रियों को अधिक अधिकार देने का प्रयास किया गया, परंतु ये सब प्रयास कुछ शिक्षित वर्ग तक ही सीमित थे, सामान्य जनसमाज पर उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। [32] फिर भी जब-जब धार्मिक क्षेत्र पर समानता या लोकतंत्रीय दृष्टि पड़ती है तब-तब स्त्रियों की स्थिति में थोड़ा बदलाव आता ही है। इसी काल में रामानुजाचार्य ने भक्ति सम्प्रदाय का सूत्रपात किया, जिसने हिन्दू धर्म के बंधनों को ढीला कर उसे वेगवान बनाने का प्रयास किया, किन्तु इन प्रयासों का धरातल बुनियादी न होने के कारण स्थिति में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं दिखाई पड़ता है। भारतीय नारी की स्थिति दिनों दिन अधिक शोचनीय होती गई है। आश्चर्य इस बात का है कि जिन संत कवियों की लोकतांत्रिक समय की पुकार भारत के कोने-कोने में गूंज उठी फिर भी भारत की सामाजिक स्थिति को वे क्यों प्रभावित और परिवर्तित न कर सके ? संतों के अनेक प्रयासों के बावजूद भारतीय समाज और विशेषतः भारतीय नारी की अधोगति क्यों हुई ?

इतिहास के अवलोकन से ऐसा मालूम होता है कि सामाजिक सुधार के लिए विशिष्ट और संगठित कार्यक्रम के अभाव के कारण भक्तों का संघर्ष व्यक्तिगत आधार पर ही हुआ; उनका विरोध समाज सुधार आंदोलन का स्वरूप न ले सका, साथ ही भक्ति सम्प्रदाय के कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सुधार खासतौर से धार्मिक क्षेत्र में समानता स्थापित करना था। जातिवाद कुटुंब व्यवस्था, उत्तराधिकार एवं संपत्ति के स्वामित्व के

प्रति भक्तों की वक्रोक्ति एवं आलोचना समानता के मूल्यों से प्रेरित नहीं थी। जाति की आलोचना का हेतु भी धार्मिक था। संक्षेप में कहें तो भक्तों का मुख्य ध्येय धार्मिक सुधार था न कि सामाजिक सुधार।

भक्ति सम्प्रदाय में ध्येय और कार्य के मर्यादित और सीमित होने के बावजूद जिस समय हिन्दू समाज में निश्चेष्टता आ गई थी, प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था एवम् स्त्रियों और शूद्रों के प्रति सामाजिक रूप से क्रूर व्यवहार किया जाता था, ऐसे समय भक्तों ने अन्याय व असमानता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद करने का प्रशंसनीय साहस दिखाया। भक्ति संप्रदाय के प्रचारकों के सामाजिक स्तर का अध्ययन करने से स्पष्ट मालूम होता है कि रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, ज्ञानदेव, तुलसी आदि भक्तों का संबंध भले उच्च जाति से था, परंतु अधिकांश भक्तों का जन्म समाज के निचले स्तर में ही हुआ, जिनका तत्कालीन ब्राह्मण प्रेरित धर्म व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था; जिस युग में स्त्रियों और दलितों को ईश्वर मीराबाई, मुक्ताबाई, जनाबाई, कान्होपात्रा जैसी संत कवयित्रियों का उदय भी स्वयम् भक्ति सम्प्रदाय की समानता तथा सामाजिक गतिशीलता की ओर इशारा करता है। जिस युग में स्त्रियों और दलितों को ईश्वर की पूजा-पाठ का अधिकार नहीं था, ऐसे समय बड़ी संख्या में स्त्री–भक्तों का उद्‌भव परिवर्तित सामाजिक परिस्थिति का ही द्योतक है।

भक्तों ने उपदेश के लिए जनभाषा का उपयोग किया, जनसाधारण तक अपना संदेश पहुंचाने का यही सहज और सशक्त माध्यम था, धार्मिक ग्रंथ संस्कृत में होने के कारण वे स्त्रियों और दलितों के पहुंच से परे थे। जनभाषा में साहित्य इतना जनप्रिय हुआ कि भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य रचना का युग प्रारंभ हुआ। चंडीदास और विद्यापति ने बंगाल में नरसिंह मेहता तथा भालण ने गुजरात में नामदेव और तुकाराम ने महाराष्ट्र में तथा कबीर और तुलसी ने उत्तर भारत में नए साहित्यिक युग का सूत्रपात किया और प्रत्येक प्रदेश की संस्कृति नए स्वरूपनों में साकार होने लगी । [33]

कबीर की साखी, तुलसी की चौपाई, चैतन्य महाप्रभु के कीर्तन नरसिंह मेहता के भजन, ज्ञानदेव और तुकाराम के अभंग मीरा और सूर के भजन, किस नारी कंठ से नहीं निकले। भक्तों ने स्त्रियों के लिए धर्मद्वार भी खोल दिया, स्मृति और पुराण के अनुसार पतिव्रत धर्म ही स्त्री का एकमात्र धर्म प्रतिपादित किया गया था किंतु इस धारणा के बदले स्त्री के स्वतंत्र रूप से व्यक्तिगत रूप में भक्ति करने के अधिकार को मान्य किया गया। वेश्या, पतिता, विधवा स्त्री भी निष्ठापूर्वक भक्ति कर ईश्वर का साक्षात्कार कर सकती थी, देखा जाए तो स्त्री-पुरुष की समानता के लिए भक्तों ने यह प्रयास किया, इससे स्त्री-संतों की परंपरा की शुरूआत हुई। संतों ने स्त्रियों को नवजीवन दिया, चक्की चलाते हुए, कपड़ा सीते हुए, दही मथते हुए तथा बच्चों को सुलाते समय गाए जाने वाले भजन कीर्तन

भी संतो की देन है। प्रायः सभी भक्तों ने स्त्रियों के भक्ति का अधिकार स्वीकार किया है, परंतु स्त्रियों के प्रति उनकी भावना तत्कालीन नारी संबंधी व्यापक दृष्टिकोण से प्रेरित थी। उन्हें नारी में अविश्वास था। गृहस्थाश्रम की महत्ता स्वीकार करने पर भी वे स्त्री को *मोक्षप्राप्ति के मार्ग में बाधक मानते थे। यहां तक कि कबीर जैसे संत जिनकी सामाजिक* चेतना अत्यंत प्रखर थी। उनकी स्त्री-संबंधी धारणा पर युग की गहरी छाया दिखायी पड़ती है, वे स्त्रियों को नर्क कूप कहने से भी नहीं हिचकिचाते थे, उनका कहना था -

नारी कूंड नरक का बिरला थामे बाग।
कोई साधुजन उबरे, सब जग मुआ लाग।।

संत एकनाथ का भी कहना था कि अपनी पत्नी से भी जितना अनिवार्य हो उतना ही बोलना चाहिए, यद्यपि चैतन्य महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय में स्त्री प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया था फिर भी स्त्रियों से वार्तालाप में रत व्यक्ति का मुख देखना उन्हें *अप्रिय लगता था। भक्तिकाल की नारी-भावना पर सिद्ध और नाथों की नारी भावना का* पर्याप्त प्रभाव पड़ा। गोरखनाथ ने नारी के मातृरूप को वंदनीय और अन्य रूपों को निंदनीय माना था। भक्तिकालीन संतों ने भी इसी मान्यता को यथावत् अनुसरण किया। नारी के मातृरूप के प्रशंसक **जगदगुरू शंकराचार्य** ने भी नारी को " **दारं किमेकं नरकस्य नारी** " *अर्थात 'नारी नरक का द्वार है'। ऐसा माना है। अतः यह तो निर्विवाद है कि* भक्तों ने स्त्रियों के यौन पक्ष को ही निंदनीय माना है। व्यक्ति के रूप में स्त्रियों के प्रति उन्हें कोई शिकायत नहीं है, क्योंकि स्त्रियों को भी वे पुरुषों की भांति ही ईश्वर की कृति मानते हैं । [34]

आश्चर्य इस बात का है कि संतों ने स्त्रियों की कल्पना, मात्र यौनवृत्ति के प्रतीक रूप में ही क्यों की ? स्त्रियों के आध्यात्मिक माहात्म्य की प्रतीति भी भक्तों को अवश्य हुई होगी वरना वे सनातन प्रेम की प्रेयसी के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति नहीं करते।

भारतीय सामाजिक जीवन सहस्त्र वर्षों से एक ही परिपाटी पर चला आ रहा था। आधुनिक काल के पूर्वाद्ध तक हमारी नई संवेदना पुराने सामाजिक नियमों के जकड़न से आबद्ध रही और पुरुषवर्ग द्वारा रचित सामाजिक मान्यताओं और आचारों के *परिवेश में नारी-व्यक्तित्व कैद हो गया, इसीलिए सती-दाह विधवाओं की विवशता, बाल-वृद्ध* विवाह, बहुपत्नी, अनमेल विवाह आदि में कोई विशेष परितर्वन नहीं पाया जाता है, परंतु पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के फलस्वरूप उसमें बड़ी उथल-पुथल मची। सामाजिक क्षेत्र में सतीदाह, कन्यावध, बालविवाह, बहु-विवाह, हरिजनोद्धार, पर्दाप्रथा,

स्त्री-शिक्षा आदि उपयोगी सुधारों के प्रचार से समाज का काया-कल्प हो रहा था। [35] मध्यकाल में नारी समाज का गौरव होते हुए भी विवश, रोती-सिसकती रही पर उसके आंसुओं का मूल्यांकन कोई नहीं कर सका, यह कार्य आधुनिक युग की चेतना ने किया क्योंकि ब्रिटिश राजसत्ता के साथ केवल नई राज-व्यवस्था ही नहीं आई, बल्कि नई आर्थिक रचना और विचारधारा भी आई।

भारतीय जीवन पर इन दोनों प्रवाहों का बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। इन दोनों प्रवाहों ने भारत की बुनियादी संस्थाओं जैसे परिवार, विवाह, और ग्राम समुदाय की सुदृढ़ नींव डगमगा दी, परिणामस्वरूप इन परिवर्तनों ने नारी की शताब्दियों से गिरती हुई स्थिति को भी प्रभावित किया और एक नई नारी का जन्म हुआ। नारी अपनी बौद्धिकता के कारण अंधेरी कोठरी से निकलकर प्रकाश में आई और उसने सब कुछ देखा, परखा फिर हस्तक्षेप किया। यूरोप से भारतीय जनता का सम्पर्क उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू होता है। उन्नीसवीं सदी के यूरोप की तीन विशेषताएं थीं - आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवादी, संरचना, राजनीतिक क्षेत्र में लोकतांत्रिक संरचना, सामाजिक क्षेत्र में व्यक्ति स्वातंत्र्य और समानता और सैद्धांतिक क्षेत्र में उदारवाद। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन तथा फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र के स्थान पर लोकतंत्रीय सरकार की स्थापना की जोरदार मांग उठी। यूरोप में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी से पुनर्जागरण तथा सुधारवाद का प्रारंभ हुआ। पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक के चार सौ वर्षों के बीच अनेक विचारकों, वैज्ञानिकों तथा समाज चिंतकों ने स्वतंत्र विचार और दृष्टिकोण प्रस्तुत किए तथा बुद्धिप्रेरित प्रवृत्तियों का आह्वान किया। बुद्धिवाद और मानवतावाद पर बल देने वाले अनेक व्यक्ति जैसे **बेकन, लाक ह्युम, वाल्टेयर, रूसो, डीडेरो** इत्यादि ने स्वतंत्रता का प्रचार किया और उसकी प्राप्ति हेतु संघर्ष भी।

नई विचारधारा ने स्वातंत्र्य समानता, बुद्धिवाद, लोकतंत्र तथा व्यक्ति की महत्ता और कार्य की गरिमा (डिग्निटी ऑफ लेबर) बीजारोपण किया। अतः एक ओर औद्योगिक क्रांति और दूसरी ओर विचारों की क्रांति, परिश्रम की जीवन शैली भौतिक एवम् पाश्चात्य जागृति और चेतना से भारतीय समाज प्रभावित हुआ और वह भी प्रगतिशील मान्यताओं का परमाणु, जीवन में एकत्र करने लगा। पाश्चात्य राजनीति, सभ्यता, शिक्षा एवं संस्कृति के प्रभाव से भारतीय समाज को जेसे अपनी सुप्तावस्था का भान हुआ और उसके निवारण के लिए इन्हीं पाश्चात्य आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर, भारतीय समाज नये दर्शन की स्थापना करने के लिए जैसे कटिबद्ध हो गया। अब तक पाश्चात्य देशों में नारी का सामाजिक और राजनीतिक महत्व स्पष्ट हो चुका था। इसी से प्रेरित भारतीय नारियों ने मध्यकाल की कठोर नैतिकता को उतार कर फेंक दिया तथा विभिन्न संस्थाओं की स्थापना के माध्यम से अपने अस्तित्व की रक्षा में कटिबद्ध हो गयीं।

19वीं शताब्दी में बदली हुई परिस्थितियों में नए शिक्षिति वर्ग ने भारत की समाज रचना तथा मुख्यतः स्त्रियों की स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया। स्त्री-सुधार में जुटे हुए उन्नीसवीं सदी के कार्यकर्ताओं के दो वर्ग थे, एक समाज सुधारकों का और दूसरा पुनरूद्धारवादियों का। दोनों समूह नई विचारधारा से प्रेरित थे और स्त्रियों की स्थिति तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के परिवर्तन के समर्थक थे। सब समाज-सुधारकों को व्यक्ति के प्रति आदर भावना में दृढ़ विश्वास था पर पुनरूद्धार के प्रति उन्हें जरा भी श्रद्धा नहीं थी। उन्हें पश्चिमी ढंग के परिवर्तन में विश्वास था, इसीलिए तो रानाडे ने सवाल किया था कि पुनरूद्धार किस बात का करना है ? प्राचीन संस्थाओं और रिवाजों का पुनरूद्धार का नारा लगाने वाले स्वयं नहीं जानते हैं कि उन्हें किसका पुनरूद्धार करना है। वैदिक युग का ? स्मृतियुग का ? पुराण युग का ? मुस्लिम युग का ? या फिर वर्तमान हिन्दू युग का ? क्या बारह प्रकार के पुत्र और आठ प्रकार के विवाह, जिसमें स्त्री को बलात् उठा ले जाने की प्रथा भी शामिल थी या विविध प्रकार के अवैध यौन संबंध, जिन्हें तत्कालीन समाज में मान्यता प्राप्त थी, उनका पुनरूद्धार करना है ? क्या विधवा भाभी के साथ यौन संबंध या संतानोत्पत्ति की "नियोग प्रथा" का पुनरूद्धार करना है ? क्या हमें सती प्रथा, बाल हत्या या जीवित व्यक्ति को भोग चढ़ाने की प्रथा का पुनरूद्धार करना है। [36]

जागृत सामाजिक कार्यकर्ताओं का दूसरा वर्ग पुनरूद्धारवादियों का था जिनका मानना था कि प्रचलित रिवाजों और प्रथाओं में परिवर्तन आवश्यक है। परंतु इन कुप्रथाओं के कारण और निवारण संबंधी बातों में इनमें पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। इन दोनों प्रवाहों ने स्त्रियों की उन्नति के लिए एक बौद्धिक चेतना पैदा की। उन्नीसवीं शताब्दी में मुख्यतः पुरुषों द्वारा स्त्रियों की उन्नति के लिए यह विनम्र प्रयास था, जिसकी वजह से आज इक्कीसवीं सदी में स्त्रियां निर्भयतापूर्वक अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने में सक्षम बनी हैं।

वेदकालीन समाज से लेकर अठारहवीं सदी के अंत तक स्त्रियों के प्रति रुख में काफी परिवर्तन हुआ। स्त्रियों को अलग व्यक्तित्व के रूप में देखा जाने लगा। नारी के कार्यों के बारे में भले ही मतभेद हों, किंतु समाज में स्त्री उच्च स्थान की अधिकारिणी है, ऐसी विचारधारा उन्नीसवीं सदी के परिवर्तनों की विशेषता है। समाज सुधारकों ने प्रथम प्रहार समाज की दोहरी नीति पर किया। **राजा राम मोहन राय** द्वारा सती प्रथा का विरोध तथा कुलीनशाही के प्रति रोष, **विद्यासागर मलबारी** या **नर्मद** की मांग कि विधवा का पुनर्विवाह ही, अथवा **स्वामी दयानंद सरस्वती, रानाडे** तथा **कर्वे** के स्त्री-शिक्षा के समर्थन में किए गए निर्भय संघर्ष तथा दोनों संस्थाओं की स्त्रियों के आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक अधिकारों के लिए संस्थाओं के माध्यम से संगठित प्रयास के पीछे स्त्रियों के प्रति समाज के पूर्वग्रह पर आधारित दृष्टिकोण को पक्षपातरहित बनाने तथा

स्त्रियों को उच्च स्थान दिलाने की भावना मुख्य थी।

स्त्री प्रगति का कार्य अधिक सुचारू रूप से हो सके इस ध्येय से इस काल में समाज सुधारकों ने संस्थाओं की स्थापना की। सन् 1832 में सर्वप्रथम **राजा राममोहन राय** द्वारा **ब्रह्म समाज** की स्थापना हुई। इस संस्था ने महिला शिक्षा, समाज सेवा और स्वतंत्रता के लिए राष्ट्र-भावना का जागरण, तीनों कार्यक्रमों को समान महत्व दिया। ब्रह्म समाज पहली संस्था थी, जिसने महिलाओं के पृथक अस्तित्व को मान्यता दी। तत्कालीन समाज की रूढ़ियों, छुआछूत की भावनाओं और स्त्रियों के लिए निर्धारित कुरीतियों से लड़ना कोई आसान काम नहीं था। पर आर्यसमाज की अगुआई में स्त्री कार्यकर्ताओं ने अनेक कष्ट झेलकर व अपमान सहकर भी नयी जमीन तोड़ी। इसलिए 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज की भूमिका इस काल के दूसरे बड़े सुधार आंदोलन के रूप में जानी जाती है। इसके बाद तो रामकृष्ण मिशन, वेद समाज, प्रार्थना समाज, सर्वेंट्स ऑफ पीपुल्स सोसाइटी आदि कई सुधारक संस्थाएं अस्तित्व में आ गयीं। इन संस्थाओं ने भी भारतीय अध्यात्म-दर्शन की मूल स्थापनाओं को नये युग के अनुरूप नयी व्याख्याओं के साथ, समाज सुधार, राष्ट्रीय नवजागरण और स्त्री जागृति में अपना भरपूर योगदान दिया। O,152,3,N03,1:g (Y.15) 152 P1
DISS आगे चलकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक में नवजागरण काल का वह दूसरा चरण प्रारंभ होता है, जहां नारी-आंदोलन केवल पुरुष-प्रेरक और पुरुष-संचालित नहीं रहा, स्वयम् स्त्रियों ने भी आगे बढ़कर उसका नेतृत्व हाथ में ले लिया। यहीं समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा, स्त्री-अधिकारों के लिए स्वयम्-संघर्ष और राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ लगकर, स्वतंत्रता-संग्राम में भागीदारी ये सारे उद्देश्य भारतीय स्त्रियों के हाथों एकाकार हो गये थे। राह भले कांटोभरी थी और उन पर चलकर पैर लहूलुहान भी हुए पर इस त्याग और संघर्ष से आगे की राह तो खुलनी ही थी; वह खुली और समानाधिकार वाले स्वतंत्र भारत के संविधान की मंजिल तक पहुंची। इस तरह बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हमारे देश में जो नारी-जागृति की लहर आयी, उसे दूसरे दशक में बल प्रदान किया, ऐनी बेसेंट, मार्गेट कजिंस, सरोजिनी नायडू जैसी सामाजिक-राजनैतिक नेत्रियों ने। **1917** का वर्ष भारतीय-नारी-प्रगति के इतिहास में एक मील का पत्थर माना जाता है।**डॉ. एनी बेसेंट** पहली महिला कांग्रेस अध्यक्ष बनीं तो इस अवसर का लाभ उठाकर स्त्रियों ने, जो अभी तक मुख्यतः सामाजिक क्षेत्र में कार्य कर रही थीं, अब राजनीतिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप करने लगीं। भारत आने से पहले **मार्गरेट कजिंस** आयरलैंड में "स्त्री-मताधिकार आंदोलन" चला चुकी थीं। 1917 में इन्होंने **"वीमेंस इंडियन एसोसिएशन"** की स्थापना द्वारा भारत में महिला-मताधिकार आंदोलन का सफल संचालन किया।

पराधीन व पिछड़े भारत की स्त्रियों ने मताधिकार-प्राप्ति की लड़ाई केवल 5 वर्ष 1917 से 1921 में लड़ी, जबकि आजाद और प्रगतिशील इंग्लैंड की स्त्रियों ने पूरे 86

TH - 9121
Jawaharlal Nehru University Library

वर्ष 1832 से 1918 तक, इसकी वजह थी कि भारत में नारी-जागृति और प्रगति के लिए प्रारंभिक कदम नवजागरण काल के सुधार युग में भारतीय-पुरुषों-मनीषियों और सुधारकों द्वारा ही उठाये गये थे। उन्होंने ही पहल करके स्त्रियों को आगे बढ़ाया और धीरे-धीरे नेतृत्व उनके हाथ में सौंपा, जबकि पश्चिमी स्त्रियों को सालों साल पुरुषों से लड़कर अपने अधिकार छीनने पड़े थे। हमारे यहां शुरू से ही नेताओं के आवाह्न से देश की आजादी के लिए भारतीय स्त्री-पुरुष कंधे से कंधा मिलाकर साथ-साथ लड़े। फिर जब भारत के राजनैतिक मंच पर महात्मा गांधी का उदय हुआ, तब तो इस महिला-भागीदारी का रूप बहुत व्यापक हो गया। सन् 1927 में **''अखिल भारतीय महिला सम्मेलन''** की नींव पड़ी। सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन से ही यह स्पष्ट हो गया था कि भारत की शिक्षित नारियां एक सशक्त नारी-आंदोलन की भूमिका बना रही हैं। इस संस्था के प्राथमिक अधिवेशनों से लेकर आज तक के वार्षिक अधिवेशनों और सामान्य क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाये तो मालूम होगा कि भारत की यह अग्रणी अभिभावक महिला संस्था केवल नारी-आंदोलन या नारी अधिकारों को ही समर्पित नहीं रही। राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों से भी निरंतर जुड़ी रही और अपने शैक्षणिक व सामाजिक उद्देश्यों के प्रति भी पूर्णतया समर्पित रही। कालांतर में इस संस्था के माध्यम से भारतीय नारी का संपर्क विदेश की नारी और प्रमुख अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं से भी जुड़ गया और तब के **राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशंस)** व फिर **संयुक्त राष्ट्र संघ** की प्रमुख एजेंसियों में भी इसे मान्यता व प्रतिनिधित्व मिला।

1946 में देश आजादी की देहरी पर आ खड़ा हुआ था। केबिनेट मिशन ने उस वर्ष की संस्था-अध्यक्ष हंस मेहता को भी बातचीत में शामिल करने के लिए आमंत्रित किया। अंतरिम सरकार के प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू ने स्वयम् आगे बढ़कर महिलाओं के वैधानिक अधिकारों में रुचि ली और स्वतंत्र भारत में महिलाओं को पुरुषों के समान ही सभी वैधानिक अधिकार प्रदान किये। आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाली अग्रिम पंक्ति की सभी सेनानियां भी इसी संस्था की सदस्या थीं, जिनके पीछे हजारों-लाखों महिलाएं चली। न कहीं क्षेत्र बंटे हुए थे न महिला-अधिकारों की ही अलग से दुहाई थी। इसी अर्थ में भारत का **''नारी मुक्ति आंदोलन''** पश्चिम के **''वीमेन लिब''** आंदोलन से सर्वथा भिन्न है। पश्चिम में "वीमेंस लिब" या "नारी मुक्ति" की शुरूआत, फ्रांस की **''सिमेन द बुवा** की पुस्तक **'' द सैकेंड सैक्स''** से हुई। तब पश्चिमी स्त्रियों ने पहली बार अपने अस्तित्व के बारे में गंभीरता से सोचना शुरू किया। इसके बाद 1963 में **बेट्टी फ्राइडन** की पुस्तक **''द फेमिनिन मिस्टिक''** ने काफी हलचल मचाई। इस पुस्तक का मूल स्वर स्त्री पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से पुरुष प्रधान समाज के दवाब में खिलाफ था। फ्राइडन ने अपनी पुस्तक में अनेक तथ्यों और उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि "स्त्री को भोग्या बनाने के साथ, उसे लगातार केवल मां, पत्नी,

गृहिणी की भूमिका स्वीकार करने पर बाध्य किया जाता रहा है। स्त्री ने इसे ही अपनी नियति स्वीकार कर लिया, यहां तक कि घर की देहरी लांघना उसके लिए "अपराध बोध" सा महसूस होने लगा। इसी अपराध-भावना ने कार्यक्षेत्र में उसे पुरुषों से पीछे धकेल दिया।

पश्चिमी समाज में नारी का भोग्या रूप जिस तरह प्रधान हो चला था उसकी प्रतिक्रिया होनी ही थी - फ्राइडन की संस्था **"नेशनल आर्गनाइजेशन ऑफ वूमन"** के माध्यम से 1970 तक अमेरिका के तमाम बड़े शहरों की महिलाएं "हमें आजाद करो" का नारा लगाती हुई सड़कों पर उतर आयी थीं अब स्त्रियों ने दासता के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था। लेकिन बाद में **केट मिलेट** की की **"सैक्सुअल पालिटिक्स"** और **जर्मन ग्रीअर** की **"फीमेल यूनीक"** ने इस आंदोलन को इतना अतिवादी रूप दे दिया कि सौन्दर्य-प्रसाधनों का बहिष्कार कर दिया गया। सड़कों पर अंगवस्त्रों की होली जलने लगी। स्त्री-पुरुष प्रतिद्वंद्विता में आमने-सामने खड़े हो गए, नारी मुक्ति की मांग यौन-स्वच्छंदता का पर्याय बन गयी। विवाह को एक गुलामी की संस्था करार दिया गया। स्त्रियों ने पुरुषों पर प्रहार ही नहीं किया, एक जाति के रूप में उनके अस्तित्व को ही नकार दिया। स्त्री-पुरुष समलैंगिकता, मुक्त यौनाचार का अटूट सिलसिला चल पड़ा। वैवाहिक संबंध टूटने लगे। बिना विवाह किए **"लिविंग टूगैदर"** का प्रचलन हो गया। पति-पत्नी का परिवार टूटकर केवल पिता या मां के **"सिंगल फेमिली"** में बदलने लगा। इस हादसे से दुखी नारी मुक्ति आंदोलन की सूत्रधार **बेट्टी फ्राइडन** ने इस आंदोलन से अपने आपको अलग कर लिया। उसके पश्चात उनकी एक पुस्तक आयी **"द सेंकड स्टेज"** जिसमें परिवार के महत्व को स्वीकारा गया।

अमेरिका में फला-फूला नारी-मुक्ति आंदोलन अब अपने उतार पर आकर फिर से "परिवारवाद" की ओर लौट रहा है। आज तीसरी दुनिया के देश अपनी बुनियादी समस्याओं की भूल पश्चिम की तर्ज पर नारी-मुक्ति आंदोलन को अपनाने की होड़ में हैं। भारत में नारी-मुक्ति और देश की गुलामी से मुक्ति - ये दो बातें कभी पृथक नहीं रही। हमारी सांस्कृतिक परंपरा पश्चिम से भिन्न है। भारत में स्त्रियां कभी भी पुरुषों के खिलाफ-प्रतिद्वंद्विता में खड़ी नहीं हुईं। नवजागरण काल का और आजादी की लड़ाई का इतिहास, जो बहुत पुराना नहीं है, हमें बताता है कि पश्चिम से भिन्न, हमारी लड़ाई पुरुषों के खिलाफ नहीं, उनके सहयोग से, उनके निर्देशन में, उनके कंधे से कंधा मिलाकर लड़ी गयी। स्त्रियों को आगे लाने में स्वयम् पुरुषों ने पहल किया। हमारी लड़ाई सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ रही हो या विदेशी शासकों के खिलाफ, हम साथ-साथ लड़े। चूंकि हमारा लक्ष्य समान था, हमारी जीत हुई।

बीसवीं सदी के **प्रथमार्ध** को **"महिला जागरण"** और **उत्तरार्द्ध** को **"महिला प्रगति"** का युग कहा जाता है। एक ओर समाज और परिवार में सम्मानित स्थिति के

लिए आर्थिक सुरक्षा, और आत्म-निर्भरता के लिए, महिलाओं की लड़ाई जारी है, दूसरी ओर अनेक शैक्षणिक, कानूनी व सामाजिक-आर्थिक, कल्याण योजनाओं द्वारा स्थितियां भी धीरे-धीरे उनके पक्ष में होती जा रही हैं, पर अफसोस इस बात का है कि इक्कीसवीं सदी में भी ग्रामीण व आंचलिक नारी-समुदाय तमाम शैक्षणिक, कानूनी व सामाजिक-आर्थिक कल्याण की धुंधली किरण से लगभग वंचित है।

नैतिक मूल्यों से भोगवादी मूल्यों की ओर बढ़ते भारतीय समाज में जबकि भ्रष्ट नव सामंतवादी शक्तियों का गठबंधन नारी-शोषण की नयी स्थितियों को राह दे रहा है, राजनीति प्रेरित सुविधाभोगी महिला नेतृत्व इसे सही दिशा नहीं दे सकता। पश्चिमी तर्ज पर आंदोलन की नकल से कुछ हासिल नहीं होगा। भारत एक बहुभाषी, बहुरंगी विशाल देश है, नारी की स्थितियां और समस्याएं सब जगह समान नहीं हैं। नारी-मुक्ति आंदोलन भी हमारे यहां इसी तरह पहले स्थानीय स्तरों पर विकेन्द्रित करके फिर समान मुद्दों पर एकीकृत करके चलाया जाना चाहिए वरना यहां भी इसका वही हश्र होगा जो पश्चिम में "विमेंस लिब" का हुआ। आज की नारी विश्रृंखलित समाज, टूटती मर्यादाओं और सामाजिक नवनिर्माण की पृष्ठभूमि में जी रही है। इक्कीसवीं सदी के भारत में सामाजिक, राजनीतिक एवम् आर्थिक परिदृश्य में काफी परिवर्तन हुए हैं। इस परिवर्तन का कमोवेश असर भारतीय नारी पर भी हुआ है। नगरों और कस्बों के जीवन पर अगर नई तकनीक एवं नई पद्धतियों ने असर डाला है तो शिक्षा के बल पर भारतीय नारी ने भी पुरुषों के क्षेत्रों में प्रवेश कर अपनी धाक जमाई है। राजनीति, विज्ञान, उद्योग, चिकित्सा तथा सैन्य क्षेत्र में नारी ने पदार्पण ही नहीं किया बल्कि अपनी योग्यता और कुशलता के बल पर नए कीर्तिमान भी स्थापित किए हैं।

आधुनिक काल में नारी के अनेक रूप मिलते हैं। इस काल में जहां नारियों ने अपने आप को धर्मशास्त्री, राजनीतिज्ञ, विचारक, वैज्ञानिक, समाजसेवी तथा अर्थशास्त्री के रूप में प्रस्तुत कर, समाज को एक नयी दिशा प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर फिल्मों, विज्ञापनों और सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के माध्यम से स्वयं को भोग्या के रूप में भी प्रस्तुत किया है। औरतों की देह का इतना खुला, निर्लज्ज और बिकाऊ प्रदर्शन इससे पहले कभी नहीं हुआ। आधुनिकीकरण और भूमण्डलीकरण के इस दौर में समाचार माध्यम और छिपे शब्दों से लेकर दृश्य-श्रव्य माध्यमों तक ने औरत की जो छवि पेश की है, वह सुंदर देह के सिवा कुछ नहीं है। समय-समय पर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आयोजित सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं से इसे और बढ़ावा मिला है। राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा स्त्रियों को विज्ञापन और सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं की आड़ में विशाल उपभोक्ता वर्ग में तब्दील करने का षडयंत्र रचा जा रहा है। बाजार के बढ़ते प्रभाव और खुली-अर्थव्यवस्था ने भी इस बात का एहसास कराया है कि स्त्रियों को लुभाए बिना और उन्हें महत्व दिए बिना उनका टिके रहना मुश्किल है।

इक्कीसवीं सदी की शुरूआत में नारी-मुक्ति आंदोलन एक नये मोड़ पर आ पहुंचा है, बीस साल पहले अस्सी के दशक में और अब की नारीवादी सोच में अहम बदलाव आया है। नारीवाद अब इतना आदर्शवादी नहीं रहा कि स्त्री को ''देवी'' और समाज में अच्छाई के फरिश्ते के रूप में प्रदर्शित करें। आज नारीवादी सोच व्यवहारिक, उग्र और अपेक्षाकृत अधिक गतिशील है। वह ''स्त्री'' में एक इंसान की तरह ''अच्छाई'' व ''बुराई'' के समावेश को पहचानता है। विश्वप्रसिद्ध नारीवादी बुद्धिजीवी, लेखिका ''**नाओमी वुल्फ**'' ने अभी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक ''**फायर विद फायर**'' में इसी बदलाव का खुलासा किया है। ''नोआमी'' के अनुसार ''महिलाएं अब शक्ति को दो नजरिये से देखती हैं। पहला ''शक्ति-आधृत'' नारीवाद यानी (पावर फेमिनिज्म) और उत्पीड़ित स्त्रीवाद यानी ''विक्टिम फेमिनिज्म'' शक्ति-आधृत नारीवाद विश्वास करता है कि महिलाएं स्वभाव से शांतिप्रिय और सहयोगी होती हैं। इसकी निगाह में एक महिला की उपलब्धि दूसरे की हानि है। असमानता के मुकाबले यह महिलाओं को ''नीचे की तरफ समानता'' हासिल करने का सुझाव देता है। यह नारीवाद उग्रता, प्रतिस्पर्द्धा व हिंसा जैसे गुण पुरुषों का बताता है जबकि इसके विपरीत ''उत्पीड़ित स्त्रीवाद'' यह मानता है कि उग्रता, प्रतिस्पर्द्धा व अलगाव की इच्छा स्त्री स्वभाव का गहन हिस्सा है। यह समझता है कि चारित्रिक दोषों पर न तो स्त्रियों का और न ही पुरुषों का एकाधिकार है।

नाओमी मानती हैं कि - वृहद स्तर पर नारीवाद को ''सामाजिक न्याय के लिए एक अनिवार्य आंदोलन समझना चाहिये। इस स्तर पर नारीवादी होने का अर्थ होगा कि ''स्त्री होने के कारण कोई मेरे रास्ते में बाधा न बने और किसी की जाति या स्त्री-पुरुष होने के आधार पर कोई मतभेद न हो। स्त्रियों के पक्ष में काम करने का अर्थ यह नहीं है कि हम उन्हें ''देवी'' का दर्जा दें या उन्हें पुरुषों से बेहतर या अलग समझें ''।''[37]

ऐसा नहीं है कि '' शक्ति-आधारित '' नारीवाद कोई नयी विचारधारा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य नारीवादी संस्थाएं जब पूरी तन्मयता से गतिशील थीं तो फेमिनिज्म दो धाराओं में विभाजित हो गया था एक ने स्त्री के नुष्य होने, उसकी व्यक्तिगत पहचान व आत्म निर्धारण पर जोर दिया, तो दूसरी ने घर-परिवार संभालने वाली ''**देवीस्वरूपा**'' नारी-छवि को प्रोत्साहित किया। पिछले दस सालों में दुनिया-भर की महिलाओं के व्यवहार-परिस्थिति व उपलब्धियों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है, क्या वह किसी ठोस बदलाव के सूचक हैं ? नाओमी के शब्दों में - ''क्या महिलाएं अपनी उपलब्धियों को समाहित कर और दृढ़ करेंगी ? हम एक महान जागृति और बिजली जैसी तेज जानकारी के दौर में प्रवेश कर चुके हैं जहां सार्वजनिक जीवन के उजाले में स्त्रियों की समझ व बोध ने पुरुषों के बोध के साथ जगह लेना शुरू कर दी है। मगर जहां नयी

स्त्री-शक्ति एक निर्बाध प्रवाह जैसी महसूस होती है, वहीं हम इसके वेग पर भरोसा नहीं कर सकते। इसकी निरंतर प्रगति का दारोमदार हमीं पर है।'' [38]

निश्चय ही जब पूरे समाज के एक बड़े हिस्से का नारी भी उसमें शामिल है, चारित्रिक स्खलन हो जाता है। तो नारी असुरक्षा की स्थितियां बन ही जाती हैं। इतिहास साक्षी है जब-जब ये स्थितियां बनीं, नारी पर बंधन लगे; उसके आगे बढ़ते चरण पीछे हटे, या घरों की ओर लौटे हैं। लम्बी दासता के बाद प्राप्त आजादी के लिए यही खतरा अब फिर सामने है। नव सामंतवाद पूरी तरह सिर उठाये, इससे पूर्व ही उसका फन कुचलना होगा। नारी शक्ति का सामूहिक उपयोग इसी दिशा में होना चाहिए ''स्त्रीवाद'' का अर्थ परिवार तोड़ना या सामाजिक विघटन लाना नहीं है, और न ही आजाद होने का मतलब है कि औरत, औरत न रहे। बराबरी में जोश में स्त्री यदि हर सही-गलत राह पर चलने का निर्णय ले लें, तो समाज को सही दिशा में ले जाने के लिए प्रेरक शक्ति कौन जुटायेगा ? निश्चय ही समाज-नियंता की यह भूमिका सिर्फ पुरुष की बराबरी करके नहीं वरन् आत्मसम्पन्न होकर उससे ऊंचा उठकर ही निभायी जो सकती है । स्त्री-पुरुष टकराव व प्रतिस्पर्द्धा पर आधृत पश्चिम के ''वीमेंस लिब'' की नकल कभी भारतीय नारी की मुक्ति का पर्याय नहीं हो सकता।

संदर्भ ग्रंथ

1. महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियां, पृ. 9, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1950
2. एस ए डांगे : इंडिया, पृ. 134, अ. 10, एस चांद एण्ड कंपनी, नई दिल्ली, 1974
3. महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियां, पृ. 9, भारतीय भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, 1950
4. रामधारी सिंह दिनकर : उर्वशी, पृ. 129, सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद
5. शिवमंगल सिंह सुमन : संस्कृति संचिका, पृ. 53
6. अथर्ववेद : 14/1, 43-44, स्वाध्याय मंडल, द्वितीय संस्करण, पारडी सूरत
7. अल्केतर ए. एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, प् 144, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1978
8. वही, पृ. 169
9. ऋग्वेद : 6/33/17-19, स्वाध्याय मंडल, द्वितीय संस्करण, पारडी, सूरत
10. ऋग्वेद :10/65/15, स्वाध्याय मंडल, द्वितीय संस्करण, पारडी, सूरत
11. शतपथ ब्राह्मण : 1.1, 4, 13, तद्ध स्मैतत्पुरा जायैव हविष्कृदुपतिष्ठिति, तदिदमप्येतर्हि यएव काश्चनोपतिष्ठति, अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी
12. अल्केतर ए. एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ 203, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1978

13. महाभारत : 5.86.8, दासीनामप्रजातानां शुभानां
रूक्मवर्चसाम्शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि
तावताम्, गीताप्रेस गोरखपुर
14. तैतिरीय संहिता : 6.5.82, निर्णय सागर, मुंबई
15. बौधायन ध. सू. 2.2.5.3, गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी
सीरीज, मैसूर
16. जीमूतवाहन दायभाग पृ. 209, अपरार्क : 2124, देवकृष्णभट्ट
स्मृतिचन्द्रिका, पृ. 27, मित्रमिश्र : वीरमित्रोदय व्यवहार प्रकाश
पृ. 529
17. व्यवहार सार पृ. 225, दुर्गाचार्यवृति सहित चौखंबा संस्कृत
सीरीज, वाराणसी
18. विवादचन्द, पृ. 67
19. प्रो. हरिदत्त वेदालंकार, हि. परि.मी., पृ. 447
20. डॉ. गजानन शर्मा : प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, पृ. 57,
हिन्दी समिति, लखनऊ, 1967
21. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 47/25, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना
22. स्कन्दगुप्त, ब्रह्मखण्ड, अध्याय सात, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना
23. पद्मपुराण, भाग 1, 41-45, 41-70
24. तुलसीदास : दोहा 60, चौ. 6, रामचरितमानस, लंका कांड
25. वही : अरण्य कांड, दोहा-43, चौपाई 1 एवं 4
26. तुलसीदास : रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर
27. वही
28. वही
29. महाभारत, शान्तिपर्व, 267, 31
30. वही, 343, 18
31. अल्केतर ए. एस. : पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू
सिविलाइजेशन, पृ 203, मोतीलाल
बनारसीदास, वाराणसी, 1978

32. क्षितिमोहन सेन : मिडीवल मिस्टीसिज्म ऑफ इंडिया, पृ. 42-43, सरस्वती सदन, दिल्ली, 1973
33. कन्हैयालाल मुंशी : रसदर्शन, पृ. 144, मनोहर प्रकाशन, वाराणसी
34. बर्थवाल : निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री, पृ. 182, भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 1952
35. ठाकुर और चौधरी : आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 380
36. एम जी रानाडे : दि मिसेलेनियस राइटिंग्स ऑफ दि लेट ऑनरेबल मिजस्टिस रानाडे, पृ.190
37. नाओमी वूल्फ : फायर विद फायर, पृ. 13, 2001
38. वही

द्वितीय अध्याय

यशपाल के कथा साहित्य में नारी

यशपाल के कथा साहित्य में नारी

समाज के बदलते हुए मापदंड, विभिन्न सामाजिक एवम् सांस्कृतिक अवस्थाओं का विकास तथा नवीन आदर्शों की स्थापना नारी-स्थिति के उत्थान-पतन के लिए उत्तरदायी रही है। साहित्यकार, सामाजिक-परिस्थितियों से प्रभावित हो साहित्य-सृजन करता है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारणों से समाज में जो अवस्था नारी की बनती है, प्रायः उसी का प्रतिविम्ब साहित्यकार की नारी भावना होती है।

यशपाल एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनका जन्म ही मानो क्रांति के लिए हुआ हो। साहित्य हो या राजनीति या पत्रकारिता हर क्षेत्र में उन्होंने क्रांति की, लेकिन यशपाल साहित्यकार पहले थे, क्रांतिकारी बाद में। यशपाल के साहित्यिक व्यक्तित्व की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने साहित्य के जरिए जीवन-दर्शन सहेतुक प्रस्तुत किया है। मात्र मनोरंजन उनके साहित्य का कभी उद्देश्य नहीं रहा, इसकी पुष्टि उनका यह वक्तव्य स्वयं करता है -''अपनी अधिक से अधिक मनोरंजक चीज में भी मैंने कुछ न कुछ संदेश दिया है। बिना संदेश दिये तो मैं कुछ लिख ही नहीं सकता''।[1] स्पष्ट है कि साहित्य में मनोरंजन के साथ जीवन विकास और सामाजिक उत्थान का महान कार्य यशपाल के साहित्यिक व्यक्तित्व ने किया है। उनके साहित्यिक-व्यक्तित्व को सूक्ष्मता से परखने पर मालूम होता है कि सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करते समय परिस्थिति और पारंपरिक धारणाओं से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। ''यशपाल उन साहित्यकारों में से हैं जो कलम और तलवार चलाने में समान सफलता प्राप्त कर चुके हैं। क्रांतिकारियों के दल में सम्मिलित होने पर भी उनकी कलम कभी नहीं रूकी। एक ओर पिस्तौल चलाना और दूसरी ओर कलम की गति दोनों साथ-साथ चलते रहे।[2] यशपाल का साहित्यक व्यक्तित्व हमेशा जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता रहा, रता। मेरा सचेत प्रयोजन समाज का मनोरंजन मात्र न होने पर भी मेरे लेखन क्रम से समाज का मानसिक रंजन हो सकना मेरी सफलता की शर्त है ''[3]

यशपाल की स्वभाविक वृत्ति का प्रतिविम्ब हमें उनके साहित्य में दिखायी देता है। यह सर्वमान्य बात है कि यशपाल ने अपने जीवन-दर्शन के रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार किया था, हिन्दी साहित्य में यशपाल सम्भवतः अकेले ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्होंने मार्क्सवादी र्शन जैसे गूढ़ विषय को जनसामान्य को अपने प्रश्नों के संदर्भ में समझाने का सराहनीय प्रयास किया है। साहित्य के जरिए उन्होंने कला धारणा, सामाजिक उत्तरदायित्व, शोषण-विरोध, रूढ़िवाद का विरोध, समष्टि हित की हिमायत, यथार्थता, नारी स्वातंत्र्य विभिन्न सामाजिक समस्याएं, यौन संबंध, नैतिकता आदि प्रश्नों के विवेचन में स्थान-स्थान पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रगट किया है। जिसका हिन्दी साहित्य पर

मार्क्सवादी पदचिन्हों की छाप छोड़ने में अक्षुण्ण महत्व है। मार्क्सवाद साहित्य एवं कला को जीवन से उद्‌भुत मानता है तथा उसकी सामाजिक उपयोगिता का समर्थन भी करता है। कलाकार या साहित्यकार की कला या रचना यदि समाज की उपेक्षा करती है, या जो उद्देश्यहीन है, मार्क्सवाद उसे कला या साहित्य मानने के विरुद्ध है। यशपाल ने मार्क्सवाद के इस रूप को अपने साहित्य के जरिए, विभिन्न वक्तव्यों से सराहा है।

यशपाल ने मार्क्सवाद का समाज के साथ प्रतिबद्ध होने की धारणा को स्वीकृति दी है। उनका कथन है कि "अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी धारणा के अनुसार उचित और अनुचित के विरोध में पाठकों की रागात्मक अनुभूति जगाने का यत्न किया है। इसलिए मेरी सभी रचनाओं में प्रतिबद्धता है। समान अवसर, शोषण से मुक्त समाज की रचना, दमन व अत्याचार का विरोध मेरी प्रतिबद्धता है। मेरा लेखन निश्चय ही मनोरंजन मात्र नहीं "प्रतिबद्ध" साहित्य है।

युग की परिस्थिति और परिवर्तनों का प्रभाव साहित्य और साहित्यकार को प्रभावित करती है। अपनी संवेदनाओं को लेखक युग की परिस्थितियों के साथ यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। यशपाल के अभ्युदय काल में भारतीय समाज में वर्णव्यवस्था और संयुक्त परिवार का बोलबाला था। श्रम विभाजन वर्णव्यवस्था पर आधृत था। तत्कालीन समाज परंपरागत रूढ़ियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त था। समाज में नारी की स्थिति दयनीय थी। स्त्री-पुरुष प्रेम केवल शारीरिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण था। परंतु राष्ट्रीय जागृति, स्वतंत्रता-आंदोलन और पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव जनसमुदाय में परिलक्षित होने लगा था। शहरों में नये उद्योग धंधों के विकास के साथ-साथ गांवों की सामाजिक स्थिति भी बदलने लगी। गांव से लोगों का शहरों में पलायन करने से पुरानी परंपरागत वर्णव्यवस्था की नींव हिलने लगी थी।

देश की राजनीतिक परिस्थितियां अस्थिर थीं। चारों ओर स्वार्थ, ईर्ष्या और द्वेष की भावना व्याप्त थी। भारतीय राजनीति में राजकीय नेता के रूप में महात्मा गांधी राजनीतिक आकाश पर छाये थे। अपार जनसमुदाय कांग्रेस की नीतियों के प्रति आस्थावान था। परंतु शिक्षित नवयुवकों का छोटा समुदाय गांधीजी के अहिंसात्मक आंदोलन की असफलता से क्षुब्ध हो गया था और सशस्त्र क्रांति द्वारा देश-मुक्ति का आह्वान कर रहा था। सन् 1936 के कांग्रेस अधिवेशन में पं. नेहरू ने राजनीतिक विचारों के लिए समाजवाद की घोषणा की, 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय गांधी ब्रिटिश सरकार को नैतिक समर्थन देने के पक्ष में थे। गांधीवादी विचारधारा सामाजिक क्रांति को महत्व नहीं देती है, अहिंसा और सत्याग्रह उनकी विचारधारा के प्रधान अंग थे। जबकि पूंजीवादी, व्यक्तिवादी स्वतंत्रता अनेक साधनहीनों की स्वतंत्रता का हनन करती थी, ऐसी परिस्थिति में उस युग के साहित्यकार का विद्रोही बनना भी स्वाभाविक ही था। 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पारित कर पूर्ण

स्वतंत्रता की मांग की जिसमें देशव्यापी आंदोलन और ब्रिटिश सरकार का दमनात्मक आंदोलन भी साथ-साथ चला। अन्ततः आजादी और विभाजन के पश्चात साम्प्रदायिकता की जो आग भड़की वह गांधी जी की 1948 में हत्या से ही ठंडी पड़ी। 1962 में चीनी आक्रमण से "हिन्दी-चीनी भाई भाई" का नारा भी खोखला सिद्ध हुआ, लोगों को समाजवाद में भी छल-कपट दिखायी देने लगा ।

यशपाल कालीन समय भारतीय परतंत्रता का रहा है, जब भारत की आर्थिक स्थिति को अंग्रेजों ने जर्जर बना दिया था। परंपरागत उद्योग-धंधों को बंद कराकर भारतीय बाजार पर अंग्रेजों ने एकाधिकार स्थापित कर लिया था। किसानों और अशिक्षित प्रजा का शोषण दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। पूंजीपति वर्ग और जमींदार वर्ग सुख वैभव के साथ विलासिता में लिप्त था। यशपाल ने देखा कि - आर्थिक विषमता के कारण ही समाज में असमानताएं उत्पन्न होती हैं और इससे सामाजिक अव्यवस्था फैलती है। अराजकता का मूल भी आर्थिक समस्या ही है। इससे ही वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा मिलता है। अतः वर्ग-भेद को दूर करने की जरूरत है। इसलिए यशपाल समाजवादी समाज रचना द्वारा आर्थिक स्थिति को सुधारने के पक्ष में थे।

युगीन संस्कृति पर मनुष्य का आचार-विचार और व्यवहार आधारित होता है। भारतीय संस्कृति विशेष रूप से धर्म प्रधान रही है, परंतु विज्ञान की प्रगति और नये-नये हो रहे आविष्कारों से भी भारतीय समाज अनभिज्ञ नहीं रहा। 19वीं शताब्दी के तत्वचिंतकों में मार्क्स फ्रायड आदि का नाम उल्लेखनीय है। इनकी विभिन्न धारणाओं ने ईश्वर संबंधी भावना को धक्का पहुंचाया। बीसवीं सदी में धार्मिकता की जगह बौद्धिकता के प्रसार का प्रभाव भारतीय जनमानस में दिखाई पड़ने लगा। 1935 तक आते-आते पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रभाव पड़ा, परिणामस्वरूप भारतीय भी वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने लगे। उस समय जाति-उपजाति के अनेक वर्ग थे पर आवश्यकता राष्ट्रीय एकता की थी। गांधी में अछूतोद्धार के प्रयत्न और मार्क्स के धार्मिक आडम्बरों का खंडन और मुक्ति की दृष्टि से समाज में नयी चेतना का विकास दिखायी पड़ने लगा। युगीन प्रभाव से ही साहित्य में प्रगतिवाद का प्रवेश हुआ, जिससे स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण बदलाव आया। सर्वमान्य है कि समाज के बदलते हुए मापदंड, विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्थाओं का विकास तथा नवीन आदर्शों की स्थापना नारी स्थिति के उत्थान पतन के लिए उत्तरदायी रही है।

तत्कालीन युग में मध्ययुगीन मान्यताओं और परंपराओं पर प्रगतिशील, प्रजातंत्रात्मक, पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति के विकास में विशेष सहायक रहा है। पश्चिम के उदार आदर्शों से प्रभावित हो, आध्यात्मिकता के संकीर्ण दायरे से बाहर निकल, समाज-सुधारकों ने नारी समाज को उस वैदिक प्रतिष्ठा से

विभूषित करना चाहा, जो मध्यकाल तक आते–आते पूर्णतः कुंठित हो, नारी स्वरूप की विडम्बना मात्र रह गयी थी।

यशपाल प्रगतिशील लेखक हैं। उन्होंने अपने कथासाहित्य के माध्यम से नारी की पराधीनता, विवाह संबंधी रूढ़िगत मान्यता और नारी की आर्थिक परावलम्बता का विरोध कर, नारी को पूंजी-वादी समाज-व्यवस्था द्वारा बनायी गयी बेड़ियों से मुक्त करने का प्रयास किया है। अपने साहित्य में उन्होंने परम्परागत नारी से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व सम्पन्न नारी की कल्पना की है, इस बात का साक्षी है उनका '' जीवन '' और '' साहित्य ''।

यशपाल का मानना था कि अतीत कालीन मान्यताएं और आदर्श आज बुद्धिगम्य और व्यवहारिक नहीं हैं। आज के समता के युग में वे अपना मूल्य खो बैठे हैं, इसी संबंध में वे कहते हैं -''मेरे लिए यह विश्वास कर पाना कठिन है कि आज का समाज अतीत की सभी मान्यताओं में भावात्मक और रागात्मक सौन्दर्य की अनुभूति पा सकता है। मैं आज पति के वियोग में पत्नी के लिए चितारोहण में सौन्दर्य नही विभीषका ही अनुभव करता हूं। मैं अतीत में भी किसी पति के पत्नी के वियोग में चिता पर चढ़ने के लिए आकुल होने के उदाहरण नहीं देख पाता तो स्त्री-पुरुष की समता के विचार से इस युग में मुझे पत्नी के सती होने के आदर्श के प्रति रागात्मक सहानुभूति उत्पन्न करना भीषण अन्याय ही जान पड़ता है। मैं राजा हरिश्चन्द्र द्वारा कण शोध के लिए पत्नी को बाजार में बेच डालने के कर्त्तव्य-परायणता के लिए भी आदर की अनुभूति उत्पन्न नहीं कर सकता, उसे धर्म नहीं समझ सकता।[5] क्योंकि नारी कोई इच्छा-विहीन वस्तु या पशु नहीं है। जिसे जहां चाहा बेच दियो जाये, वह तो पुरुष की तरह ही एक मनुष्य है, जिसे अपने विषय में फैसला करने का अधिकार है।[6]

स्पष्ट है कि नारी के प्रति यशपाल का उदार दृष्टिकोण है। इनके साहित्य में अधिकतर नारी अपना स्वतंत्र अस्तित्व व अस्मिता रखती हैं। ''दादा कामरेड'' की 'शैल', दिव्या की ''दिव्या'', पार्टी कामरेड की ''गीता'', मनुष्य के रूप की ''मनोरमा'', मेरी तेरी उसकी बात की ''उषा'' आदि स्त्री विषम परिस्थितियों में भी अपने व्यक्तित्व का सौदा नहीं करती है, बल्कि उसकी अस्मिता बनाये रखने के लिए जीवनपर्यन्त संघर्षरत् रहती हैं।

स्वतंत्र-व्यक्तित्व को बरकरार रखने के प्रयास में ही झूठा-सच में ''कनक'' का ''पुरी'' से और मनुष्य के रूप में ''मनोरमा'' का सुतलीवाला से तलाक होता है। यशपाल के नारी-पात्रों को पुरुष की सम्पत्ति बनकर जीवन-यापन करना मंजूर नहीं है। इतना ही नहीं यशपाल के प्रगतिशील विचारों का वहन करने वाले कुछ ''पुरुष पात्र'' भी व्यक्तित्व विहीन नारियों को न तो पसंद करते हैं, और न ही उन्हें इस रूप में स्वीकार

करते हैं। देशद्रोही में ''खन्ना'' के रूप में यशपाल स्वीकार करते हैं कि मनुष्य केवल रूप पर जीवित नहीं रह सकता, नर्गिस मनुष्यत्व-विहीन नारी थी। वह व्यक्तित्व-विहीन भोग का साधन मात्र थी इसलिए खन्ना मन से नर्गिस को स्वीकार नहीं कर पाता, वहीं *मौका मिलते ही स्वतंत्र-व्यक्तित्व सम्पन्न चंदा के प्रति आकर्षित हो जाता है और उसका* आदर भी करता है।

यशपाल सदा नारी को पुरुष के वंश-रक्षा के लिए संतानोत्पत्ति का साधन बनने की अपेक्षा नारी को व्यक्तित्व सम्पन्न बनाना अधिक आवश्यक मानते हैं। उनका मानना है कि -''स्त्री का स्थान माता का जरूर है, वह पूजा की भी पात्र है, परंतु पूजा के पात्र जितने देवी-देवता होते हैं, वे सब मंदिर में बंद रहते हैं और चाभी रहती है, पुजारी की जेब में। घर के मंदिर में स्त्री पूजा की प्रतिमा है, पर मंदिर का मालिक पुजारी तो पुरुष ही है। इसीलिये उसी का अधिकार और शासन चलना जरूरी है।[7] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि नारी का सम्मान भी पुरुष अपने आत्माभिमान एवं संतोष-पूर्ति के लिये करता है, और नारी उसके उपभोग का पदार्थ मात्र बन जाती है। वस्तुतः नारी के सम्मान के पीछे पुरुष की अहम् तुष्टि होती है, पुरुष नारीत्व और मातृत्व का सम्मान इसलिए करता है क्योंकि संतान उसके लिए उपयोगी है, और संतान प्राप्ति और पालन-पोषण का कार्य स्त्री के बिना असंभव है।

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही जीर्ण रूढ़ियों का प्रेमी रहा है। यशपाल ने अपने साहित्य के जरिए भारतीय जनमानस में स्थित प्राचीन संस्कारों के प्रति आस्था और *अंधश्रद्धा को, अपने प्रक्षेपक विचारों से, आघात देकर, उन्हें सोचने के लिए मजबूर किया* है, समाज में नयी चेतना पैदा की है। सदियों से भारतीय समाज को अशिक्षित रखकर शासकों ने अपना स्वार्थ साधा है, क्योंकि ज्ञानविहीन समाज से ही सत्ता की सुरक्षा संभव थी। यशपाल ने अपने साहित्य से समाज में वैचारिक क्रांति फैलाने का प्रयास किया क्योंकि कोई भी क्रांति पहले मन में निर्मित होती है, बाद में समाज में साकार होती है।

सभ्यता के प्रारंभ से ही सभी वर्गों की नारियां परोक्ष या अपरोक्ष रूप से पुरुषों के अधीन रही हैं। आर्थिक दृष्टि से उच्च, मध्य और निम्न वर्ग की नारी भले भिन्न हो पर *शोषण और व्यक्तित्वहीनता के स्तर पर सम्पूर्ण नारी जाति एक ही श्रेणी में आती है।* एक किसान मजदूर श्रेणी की औरतें हैं, जो पति के बराबर ही काम करती हैं और पति की गुलामी भी करती हैं। दूसरी हैं, सफेदपोश औरतें, ये लोग घर का काम करती हैं, जिसे आठ दस रूपये माहवार का नौकर बखूबी कर सकता है, हां वंशधर पैदा करने का काम *अतिरिक्त जरूर है। तीसरी अमीर श्रेणी की औरतें हैं जो पुरुष के मन-बहलाव और* संतान-प्रसव करने के अतिरिक्त वे कुछ नहीं करतीं, अमीर लोग इन्हें बैठा-बैठाकर अपने शौक और शान के लिए खिलाया करते हैं। जैसे तोता, मैना या गोद में पालूत कुत्ते को

खिलाया जाता है। [8]

यशपाल केवल मध्य या निम्नवर्ग की नारियों को ही व्यक्तित्व शून्य नहीं मानते, वरन् पूंजीपति वर्ग की स्त्रियों को भी स्वतंत्रता रहित और व्यक्तित्वहीन स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि - इस वर्ग की स्त्रियां यदि छतरी और बटुआ हाथ में लंकर मनमानी साड़ियां और जेवर खरीदने की स्वतंत्रता पा जाती हैं तो अपने आपको स्वतंत्र समझने लगती है, परंतु यदि वे स्वतंत्रता से अपना घर बसाना या स्वतंत्रता से संतान पैदा करना चाहें तो क्या वे स्वतंत्र हैं ? इस दृष्टि से इस वर्ग की स्त्रियां किंचित भी स्वतंत्र नहीं है। जिस व्यक्ति का अपना कोई अस्तित्व नहीं उससे अधिक शोषित कौन होगा ? अगर यह श्रीमतियों अपनी इस स्थिति पर गर्व करती हैं तो यह उनकी मनुष्यत्वहीन, व्यक्तित्वहीन मानसिक स्थिति का परिणाम है। [9]

यशपाल प्रगतिवादी लेखक हैं, उनकी नारी सब कुछ भाग्य की प्रवंचना मानकर सह नहीं लेती हैं, बल्कि संघर्ष करने समाज के रणक्षेत्र में उतर आती हैं। यशपाल के कथा-साहित्य में नारी निरंतर स्वतंत्रता और समानता के लिए संघर्षरत् भी रहती हैं।

यशपाल व्यक्तिगत तौर पर समाज में नारी के प्रत्येक बंधनों और षड़यंत्र को समाप्त कर देना चाहते हैं, वे मानते हैं कि आज की पढ़ी-लिखी नारी अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हो चुकी है और उसे बनाये रखने के लिए संघर्षरत् भी हैं। अब समाज को अपनी उन सभी पुरानी मान्यताओं को परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिए जो समाज की प्रगति में बाधक है। "हमें सोचना पड़ेगा कि मनुष्य की आयु बढ़ने के परिणामस्वरूप जब समाज में बचपन के युग की झंगुलियां उसके बदन को दबाने लगें, तब उसके लिए, नये विचारों का विस्तृत कपड़ा बना लेना बेहतर होगा या शरीर को दबाकर पुरानी सीमाओं में ही रहना ?10

स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्थाओं को सनातन सत्य मानकर परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित करना आवश्यक है। आज का युग समानता का युग है, परंतु स्त्री-पुरुष की समानता के रास्ते में अनेक सामाजिक बंधन हैं। इन बंधनों की खाई पाटे बिना स्त्री-पुरुष समानता की बात महज स्वप्न ही होगी। आज जरूरत इस बात की है कि बदलते समय और परिस्थितियों के अनुरूप सामाजिक बंधन भी ढीले पड़े और उनमें कट्टरता का अभाव हो। "दादा कामरेड" में राबर्ट इसी संबंध में कहता है - जब तक स्त्री-पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती थी, उसका एक पुरुष की बने रहना जरूरी था परंतु आज जब स्त्री को पुरुष के समान अधिकार देने की बात आप कहते हैं तो इस प्रकार के नियम या कानून की जरूरत है। आप इंकार नहीं कर सकते कि विवाह एक बंधन है। बंधन उस समय लागू किया जाता है, जब अव्यवस्था का डर रहता है। हैरान हूं कि समाज में इस बंधन का इतना आदर क्यों है ? दूसरे बंधनों की तरह इसे भी आजादी का

शत्रु समझना चाहिए।[11] यहां राबर्ट के माध्यम से यशपाल ऐसे विवाह के घोर विरोधी हैं जिसके लिये स्त्री-पुरुष समान रूप से राजी न हों। वे विवाह के लिए नारी-पुरुष की समान सहमति के समर्थक हैं। उनका मानना है कि विवाह शारीरिक संतुष्टि के लिये *सिर्फ लाइसेंस नहीं है। झूठा-सच में डॉ. प्राणनाथ और तारा का विवाह इसी की परिणति* है, जहां प्रेम पारस्परिक सहमति का सामंजस्य है। प्राणनाथ और तारा के विवाह में शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों का सामंजस्य है। इसके अभाव में विवाह-संबंध एक प्रच्छन्न व्यभिचार मात्र होता है।

यशपाल स्वीकार करते हैं कि - पति-पत्नियों के यौन अनुभवों की वास्तविकता के बारे में मैं यह कहने के लिये मजबूर हूं कि हमारे समाज में निन्यानवे प्रतिशत नर-नारियों की स्वभाविक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का अन्यायपूर्ण दमन हो रहा है ... निन्यानवें *प्रतिशत नर-नारी बिना किसी शारीरिक संतोष अथवा प्रेम के यौन-संबंधों और दाम्पत्य को* निर्वाह कर रहे हैं। ऐसी अवस्था को सामाजिक मान्यता के आवरण में व्याभिचार को प्रश्रय देना ही कहना चाहिये।[12] धर्म और समाज के भय से सामाजिक संबंधों के निर्वाह को यशपाल उचित नहीं मानते, उनका कहना है कि आदर्श पति-पत्नी का संबंध वही है, जहां *संबंधों का निर्धारक समाज नहीं वरन् दोनों का पारस्परिक प्रेम और सामंजस्य है।* इसके अभाव में असंतुष्टि और व्याभिचार फैलने का भय बना रहता है। अपने उपन्यास झूठा-सच में यशपाल इसी वजह से कनक और शीलो को क्रमशः पुरी ओर मोहनलाल से अलग कर देते हैं, शीलो और मोहनलाल के संबंधों की मधुरता समाप्त होने पर उनका *संबंध सामाजिक प्रतिष्ठा मात्र बन गया था। झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए अर्थहीन* संबंधों को ढोने का कोई औचित्य नहीं रह गया था इसलिये यशपाल शीलो का रतन से नया संबंध स्थापित करते हैं उनकी दृष्टि में पति-पत्नी का संबंध अधिकार या स्वत्व से नहीं, वरन् पारस्परिक प्रेम-विश्वास और अनुरागजन्य अनुमति से होता है। नर-नारी के *प्रेम में प्राकृतिक न्याय यही है। पति अनुराग से रक्षा तथा आश्रय देकर अधिकार प्राप्त* करता है, स्वत्व से नहीं। निर्दयता, निरादर तथा स्वत्व का अहंकार प्रेम के नहीं विरोध के भाव है। ऐसे भाव और व्यवहार प्रेम-भावना तथा पति-पत्नी के संबंधों को समाप्त कर देते हैं।[13]

यशपाल के कथा-साहित्य के अध्ययन के पश्चात यह मालूम होता है कि उनके साहित्य की अधिकतर नारी धार्मिक संकीर्णताओं का विरोध करती दिखाई पड़ती हैं। वे प्रेम के मामले में धर्म को निर्णायक नहीं मानतीं, इसलिए विजातीय व विधर्मी पुरुषों से भी *संबंध कायम करती हैं। हालांकि इस विरोध का दर्शन यशपाल से पूर्व प्रेमचंद-साहित्य में* ही मिलने लगा था। प्रेमचंद के चर्चित उपन्यास **रंगभूमि, कर्मभूमि** और **गोदान** में अन्तर्जातीय प्रेम और विवाह की घटनाएं यत्र-तत्र दिखायी पड़ती है। ''रंगभूमि'' में

ईसाई, सोफिया का हिन्दू-विनय से, ''कर्मभूमि'' में मुस्लिम ''सकीना'' का हिन्दू अमरकान्त से, ले प्रेम देखने को मिलता है। ''गोदान'' में ब्राह्मण ''मातादीन'' का चमारिन ''सिलिया'' से प्रेम और विवाह, धर्म और जाति की दीवार को गिराने का ही प्रयास है।

यशपाल के कथा-साहित्य में भी प्रेम को साम्प्रदायिकता की महामारी और धार्मिक बंधनों से निजात दिलाने का भरपूर प्रयास दिखाई पड़ता है। ''मेरी तेरी उसकी बात'' की नायिका उषा अपने मां-बाप की इच्छा का विरोध कर अपनी जाति से बाहर ''डॉ. सेठ'' से सिविल-विवाह करती है। झूठा-सच में ''जुबैदा'' ''प्रद्युम्न'' से लगाव की वजह से ही पाकिस्तान छोड़ भारत आती है और हिन्दू-मुस्लिम प्रेम अन्ततः विवाह बंधन में बंध जाता है। यशपाल के चर्चित उपन्यास ''दिव्या'' में भी ब्राह्मन-पुत्री ''दिव्या'' और दास-पुत्र ''पृथुसेन'' का परस्पर प्रेम और वर्णव्यवस्था विरोधी ''मारिश'' और ''दिव्या'' का एक-दूसरे को अपना जीवनसंगी चुनना, जातीय संकीर्णता को अस्तित्वहीन करने का ही प्रयास है। यशपाल विवाह विच्छेद को बुरा नहीं मानते हैं। परिस्थितिनुसार वे स्त्री-पुरुष के जीवन को बेहतर बनाने में इसे सहायक ही समझते हैं। यशपाल इसी संबंध में अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि -''क्या नर-नारी का संबंध या विवाह, समता और आत्मनिर्णय के आधार तथा परिस्थितियों में हो ही नहीं सकता ? मेरे विचार में ऐसा हो सकना चाहिये, कनक और तारा का आचरण ऐसे संबंध का द्योतक माना जा सकता है।[14]

समता और आत्मनिर्णय के आधार पर किये गये विवाह को यशपाल अधिक सफल मानते हैं, लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे प्रेम-विवाह को सफल विवाह का पर्याय ही स्वीकार करते हैं क्योंकि राबर्ट, फूलोरा, मनोरमा-सुतलीवाला, कनक-पुरी आदि पात्रों का विवाह प्रेम विवाह ही था लेकिन विवाह के कुछ समय पश्चात ही उनका अलगाव हो जाता है। वस्तुतः इन तीनों विवाहों के पीछे परिपक्व प्रेम न होकर भावुकता थी, इसलिये इनका अलगाव हुआ। यशपाल संबंधों को सिर्फ परिवार की मर्यादा और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए ढोते रहने के खिलाफ हैं, उनका मानना है कि यदि चूक या गलती हो जाये तो बलिदान करके निबाहने की जगह, नई जिंदगी की शुरूआत करना ही बुद्धिमानी है। यशपाल तलाक को नारी स्वतंत्रता के लिए आवश्यक मानते हैं। क्योंकि इसकी सहायता से नारी खुद को शोषण से आजाद करा सकती है। इस विषय में यशपाल लेनिन के इस कथन से सहमत प्रतीत होते हैं कि - तलाक की आजादी को तत्काल अमल में लाने की मांग किये बगैर न तो कोई जनवादी हो सकता है, और न समाजवादी क्योंकि इस आजादी के अभाव का अर्थ है औरतों का चरम उत्पीड़न।[15]

"मनुष्य के रूप" उपन्यास की मनोरमा सुतलीवाला से तलाक के माध्यम से ही मुक्त जीवन यापन करने में सक्षम होती है। यशपाल स्त्री-पुरुष की पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थक हैं। वे स्त्री-पुरुष संबंध को प्राकृतिक आवश्यकता और कर्त्तव्य का संबंध मानते हैं। परंतु इसके लिये वे एक-दूसरे के दासत्व को स्वीकार करना उचित नहीं समझते, और न ही स्वतंत्रता से उनका तात्पर्य व्याभिचार और उच्श्रृंखलता है, सिर्फ भोग को पेशा बना लेने और इसके साथ अपनी वासना के लिए दूसरे व्यक्तियों और सामाजिक जीवन-व्यवस्था में अड़चन डालने को वह भयंकर अपराध समझते हैं।इसलिये अपने साहित्य में उन्होंने यौन-उन्मुक्तता का विरोध किया है। यौन के क्षेत्र में अनाचार को वे पूंजीवादी सभ्यता की देन मानते हैं, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होने के कारण ही पूंजीवाद इस प्रकार के दुराचार को प्रश्रय देता है और पल्लवित करने में सहायता करता है। झूठा-सच का पात्र "सोमराज" इसका सजीव उदाहरण है, धनवान होने के कारण उसके कुकर्मों पर पर्दा पड़ जाता है, वहीं निर्धन स्कूल मास्टर की बेटी "तारा" जो उससे अधिक सुसंस्कृत, शिक्षित और चरित्रवान होती है, उसका विवाह चरित्रहीन सोमराज से हो जाता है। धन के अभिमान से ही "सोमराज" विवाह के पश्चात् तारा से बदसलूकी करता दिखता है। "भूखे मास्टर की औलाद, तेरी हिम्मत की "मुझसे" शादी के लिए मिजाज दिखाये,", पूंजीवादी सभ्यता की देन "सेक्स में उच्श्रृंखलता" का विरोध करते हुए यशपाल का मानना है कि जनतांत्रिक समानता को ध्यान में रखते हुए संयम और नैतिकता का पालन करना चाहिये -"मर्द होने का मतलब बेशर्मी का अधिकार नहीं है। तुम जनतंत्र की समानता की बात करते हो। जनतंत्र और समता के समाज में वही नैतिकता और तफरीह चल सकती है जो सबके लिए संभव हो।[16]

प्रेम और विवाह को प्राकृतिक आवश्यकता मानते हुए भी यशपाल उसके लिए उच्श्रृंखलता और इन्द्रियाकर्षण को उचित नहीं मानते, ज्ञानदान कहानी संग्रह में वे कहते हैं कि - प्रेम में इन्द्रियाकर्षण भी है, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेम केवल इन्द्रियाकर्षण ही है। मनुष्य का जीवन पशुओं की भांति केवल इन्द्रियों के क्षेत्र तक सीमित नहीं है। मनुष्य चिंतन प्रधान जीव है। मानसिक संतोष के लिए वह बहुत कुछ करता है। मनुष्य जब नक्षत्रों की दूरी नापने और नये विटामिन ढूंढने में जीवन लगा देता है तो उसे किस इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है ? इससे केवल मन या बुद्धि का ही संतोष होता है, ऐसे ही मन और मस्तिष्क से भी किसी वस्तु को पाने की इच्छा की जा सकती है।[17] "मनुष्य के रूप" में मनोरमा और सुतलीवाला के विवाह के पीछे इसी विवेक का अभाव था, परिणामस्वरूप विवाह विच्छेद हो जाता है। यदि जीवन में प्रेम या आकर्षण का संयम विवेक से नहीं होता तो वह जीवन के लिए सदा घातक ही होता है। भावावेश में किये गये विवाह की परिणति अक्सर संबंध विच्छेद होता है। यशपाल सिर्फ

प्रेम और विवाह के संबंध में ही परम्परावाद का विद्रोह नहीं करते वरन् ''संतान'' के विषय में भी रूढिवादी मान्यताओं का विरोध करते हैं, यही वजह है कि इनके कथा-साहित्य में नारी गर्भपात को प्रकृति-विरुद्ध नहीं मानतीं - ''झूठा-सच'' की मर्सी गर्भपात का समर्थन करते हुए कहती है कि - ''इस जमाने में कितने लोग चार-पांच बच्चों का वरदान चाहते हैं, इतने बच्चों के लिये स्वस्थ भोजन और उचित शिक्षा का प्रबंध कर सकते हैं? उन सबकी जिन्दगी नरक बन जायेगी । क्या उनके लिये अवांछित गर्भ और बच्चे जीवन-भर की बिमारी नहीं है ?[28]

यशपाल संतान के विषय में परम्परागत धारणा से सहमत नहीं हैं, कि '' बच्चे ईश्वर की देन हैं,'' उन्हें रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए । उनका मानना है कि ''सभ्य समाज सदैव संतान की कामना से ही अपने को तृप्त करने की ओर अग्रसर नहीं होता --''जब-जब भोग की प्रवृत्ति होती है, तब सदा ही संतान की इच्छा नहीं होती, फिर संतान क्यों हो ? जिस संतान का स्वागत करने के लिए परिस्थितियां न हों, उसे संसार में लाना ही अन्याय है, जीवन में ऐसा समय भी आता है जब संतान की इच्छा होती है, तभी उसे आना चाहिए ।[19] स्पष्ट है कि यशपाल अवांछित संतान को जन्म देने की अपेक्षा उसका गर्भपात ही श्रेष्ठ मानते है । ''जनतांत्रिक समाज में सभी के लिए संभव नैतिकता ही स्वीकार्य है'' का दावा करने वाले यशपाल अपनी कुछ रचनाओं में जनतंत्र विरोधी विचारों को प्रकट करते प्रतीत होते हैं, -- ''दादा कामरेड'' में ''हरीश'' राबर्ट और शैल की यौन संबंधी मान्यताऔर व्यवहार ऊपरी तौर से देखने पर बहुत क्रांतिकारी प्रतीत होते हैं किन्तु घोषित रूप से मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित होते हुए भी यशपाल के यौन संबंधी मान्यताओं पर मार्क्सवाद की अपेक्षा पूँजीवाद का ही सीधा-सीधा प्रभाव दिखायी पड़ता है । स्वछंद यौन व्यवहार मार्क्सवादी व्यवस्था की विशेषता न होकर पूँजीवादी व्यवस्था का गुण है और इसी व्यवस्था में मुक्त यौन संबंध संभव है । प्रेम के संबंध में स्वतंत्रता देने का मार्क्सवादी विचार धारा का अभिप्राय सिर्फ इतना है कि '' मनुष्य प्रेम के आधार पर अपना जीवन-संगी चुन सके और स्थायी संबंध बनाने में सफल हो न कि, प्रेम के नाम पर संबंधों में शिथिलता आये ।

दूसरी बात है कि मार्क्सवादी व्यवस्था कभी भी विवाह-संस्था को समाप्त नहीं करना चाहती वरन् परम्परागत विवाह यानी, प्रेम-विहीन विवाह को प्रेम-युक्त विवाह में बदलना चाहती है । मुक्त यौनाचार को प्रश्रय देना मार्क्सवाद का उद्देश्य नहीं है । ''दादा कामरेड'' के अतिरिक्त ''भूख के तीन दिन'' कहानी संग्रह की कहानी ''खूब बचे'' तथा उपन्यास ''क्यों फंसे'' में यशपाल विवाह-विरोधी विचारों को प्रकट करते हैं जो पूँजीवादी विचार-धारा की ही देन है, अतिभौतिकता की नैतिकता और उच्श्रृंखलता को ही यहाँ यशपाल प्रश्रय देते दिखाई पड़ते हैं । अपनी इन रचनाओं में यशपाल विवाह को

बंधनों में जकड़ने वाली बेड़ी के रूप में स्वीकार करते हुए उसका विरोध करते हैं । प्रेम को मात्र शारीरिक क्रिया व्यापार मानकर उसे सीमित कर देते हैं, –'' नर नारी में प्रेम और आकर्षण का अर्थ मन और तन के परस्पर ऐक्य और मेल की चाह ओर प्रकृति है । *पूर्ण शारीरिक ऐक्य ही प्रेम-आकर्षण की निष्पत्ति है, अंतर और ऐक्य या प्रेम एक दूसरे का* इनकार है।[20]

इस प्रकार मानसिक सामंजस्य को प्रेम में कोई स्थान न देने के कारण यशपाल विवाह को अनावश्यक करार देते हैं । साथ ही नारी के समर्पण को भी फ्रॉड, जाल मानते हैं । यशपाल का इस संबंध में कहन है कि – ''वेश्या रिझाने के बदले, कुछ दिनों की कमाई हड़प लेती है, तो पतिव्रता बदले में जीवन भर के लिए रक्षा एवम् पालन-पोषण वसूल करती है।''[21] यहां यशपाल के विवाह विरोधी विचारों के मूल में यौन उच्श्रृंखलता है, परंतु अन्य स्थानों पर उन्होंने पूँजीवादी सभ्यता की देन – नारी की पुरुष पर आर्थिक आश्रयितता '' से उत्पन्न नारी की मजबूरी की वजह से भी विवाह का विरोध किया है । '' मेरी तेरी उसकी बात '' में इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि – '' *हमारे समाज में पत्नी प्रेम से नहीं अपितु मजबूरी से स्वामी भक्ति निभाती है* । अनेक स्थानों में यह भी देखने को मिलता है कि यशपाल विवाह के विरोधी नहीं वरन् आधुनिक व्यवस्था विराधी हैं, जो नारी को ओढ़ने पहनने और घूमने की आजादी तो देती है, पर उसे आर्थिक स्वतंत्रता न देकर पुरुष के अधीन बनाये रखती है । नारी अस्तित्व व *व्यक्तित्व के प्रति जागरूक '' दादा कामरेड '' की शैल भी पूँजीवादी समाज में ऐसे* विवाह की विरोधी हैं जो स्त्री को पुरुष का गुलाम बनाकर रख देती है । '' शैल '' किसी भी स्तर पर पुरुष के शोषण को स्वीकार करना उचित नहीं समझती है, उसका मानना है कि समर्पण भी एक तरह से पराधीनता की स्वीकृति का द्योतक है – किसी को *अपना बना लेने का मतलब भी तो किसी की हो जाना ही है । जहाँ स्त्री का अपना* कुछ नहीं रह जाता । यदि स्त्री को किसी न किसी की बनकर ही रहना है तो उसकी स्वतंत्रता का अर्थ क्या हुआ ? स्वतंत्रता शायद इसी बात की है कि स्त्री एक बार अपना मालिक चुन ले, परंतु गुलाम उसे जरूर बनना है ।[22]

यशपाल की नारी पुरुष के जेब में रुमाल की तरह मात्र उपयोग की वस्तु बनकर रहना स्वीकार नहीं करती हैं । शैल इसी संबंध में यशोदा से कहती है – '' पुरुषों के संदेह और बेमतलब नाराजगी की बहुत परवाह करने से या तो केवल उनके जेब में रुमाल की तरह रहो, स्वयम् सोचना, अपने जीवन की बात करना छोड़ दो या, उन्हें *सोचने दो अब तक स्त्रियां रहीं हैं मर्दो के इस्तेमाल की चीज। यदि वे अपने व्यक्तित्व को* अलग से खड़ा करने की चेष्टा करेगीं तो उंगली जरूर उठेगी, लेकिन थोड़े दिन बाद नहीं । पुरुषों को सहने का अभ्यास होना चाहिए कि स्त्रियां अपना व्यक्तित्व रखतीं हैं ।''[23]

यशपाल नारी को उन्नति के पूरे-पूरे अवसर देने के पक्ष में हैं वे नारी को परम्परागत धारणा से मुक्त कर, उसे पुरुष की दासी से उठाकर पुरुष की संगिनी के रूप में स्थापित करने के लिए अपने साहित्य में प्रयासरत दिखाई पड़ते हैं । पुरुषसत्ताक समाज ने नारी को सदैव अपनी पाश्विक प्रवृत्तियों का शिकार बनाया है, उस पर शासन करने और उसे अधीन बनाये रखने के लिए अनेक षड़यंत्र रचे हैं । सती-प्रथा, कन्या-दान, पतिव्रता आदि इसके ही विविध रूप हैं । यशपाल के कथा साहित्य में पुरुष सत्ताक समाज की इन्हीं रूढ़िवादी परम्पराओं के खिलाफ नारी पात्रों के तीखे तेवर और विद्रोह का स्वर दिखाई पड़ता है । अतीत की नारी "दिव्या" आधुनिकता के परिवेश में हमारे सामने आती है । आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना से परिपूर्ण सामंती युग की वह ऐसी नारी है, जो अत्याचारों को सहन करके, शारीरिक शक्ति से नियति की क्रूरता को ध्वंस करती हुई, जीवन में आगे बढ़ती जाती है, निरंतर गतिमान । वह पुरुष की अहंवादी प्रवृत्ति और क्रूर नृशंसता को अपने आत्मनिर्णय से चुनौती देती हुई एक सबला नारी का आदर्श प्रस्तुत करती है । "दिव्या" के कथन में यशपाल के विचार झांकते नज़र आते हैं, "आचार्य कुल-वधू का आसन, कुल-माता का आसन, कुल-महादेवी का आसन, दुर्लभ सम्मान है । यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है, परंतु आचार्य कुल-माता और कुल-महादेवी निरादृत वेश्या की भांति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं है । यानि आचार्य कुल-वधु का सम्मान, कुल-माता का आदर और कुल-महादेवी का अधिकार आर्य-पुरुष का प्रश्रय मात्र है ।[24]

यशपाल स्त्री की आत्मनिर्भता को इतना महत्व देते हैं कि प्रेम का सच्चा अधिकारी भी उसी को स्वीकार करते हैं जो किसी के आश्रय की अपेक्षा न रखता हो, और आत्मनिर्भर हो, उनका मत है – "सभी स्त्रियाँ आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य शरीर से चुकाती हैं । आत्म-तुष्ट प्रेम तो वही है जो मूल्य में आश्रय न मांगे । प्रेम का अधिकारी वही है जो आश्रय न मांगे, जो अपने पांव पर खड़ा हो।" [25]

यशपाल नारी की स्वतंत्रता को आर्थिक स्वतंत्रता का पर्याय मानते हैं । यदि नारी आर्थिक रूप से स्वतंत्र होगी तो आश्रय की कामना न होगी, जो सब दुःखों का मूल है । ऐसा ही मत दिव्या प्रकट करती हुई निश्चय करती है कि "आश्रय के जाल में वह न फंसेगी पराश्रित और भोग्य न होकर वह आत्मनिर्भर बनेगी। " [26] "दिव्या" का यह मंतव्य इस बात का संकेत करता है कि नारी आर्थिक स्वतंत्रता के बिना स्वतंत्र नहीं रह सकती । स्वतंत्रता की यही चाहत दिव्या को वेश्या बनने को भी मजबूर कर देती है । यशपाल का इस संबंध में मत है कि ऐसा करने को स्त्री तभी विवश होती है जब जीवन-रक्षा का कोई दूसरा अपाय उसके पास न हो। [27]

व्यक्तिगत सम्पत्ति को बनाये रखने के लिए वेश्यावृत्ति पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की ही देन है । समाज में वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान नहीं होने के कारण भी इस कुकर्म को बढ़ावा मिलता है । यशपाल इस संबंध में लेनिन से स्वर में स्वर मिलाते हुए वेश्यावृत्ति को भंयकर अपराध मानते हैं । उनका कहना है कि – समाजवादी समाज में जीविका के साधन अपनी योग्यता, और अवस्था के अनुसार सभी को समान रूप से प्राप्त होगें, इसीलिये जीविका के लिये उस समाज में स्त्री को व्यभिचार से जीविका कमाने की आवश्यकता न होगी । जो लोग पूँजीवादी समाज के संस्कारों के कारण ऐसा करेगें वे अपराधी समझे जाएगें ।[28]

यशपाल की दृष्टि में पूँजीवादी समाज व्यवस्थान्तर्गत हर स्थिति में नारी शोषण को प्रश्रय दिया जाता है । ऐसे समाज में नारी भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । पुरुष का एकाधिकार उसके स्वतंत्र अस्तित्व को दबाकर उसे दासी की ही भूमिका में देखना चाहता है । दरअसल पैदावार के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार के आधार पर कायम पूँजीवादी समाज में, जीवन निर्वाह का ढंग ऐसा है कि, स्त्री व्यक्ति की संपत्ति और मिल्कियत ही रहेगी । वह या तो पुरुष के आधिपत्य में रहकर उसका वंश चलाने, उसके अपभोग में आने की वस्तु रहेगी या फिर आर्थिक संकट और बेकारी के शिकंजों में निचोड़े जाते समाज के तंग होते हुए दायरे से, अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण, जिस गुण के कारण वह समाज को उत्पन्न कर सकती है, समाज में स्वतंत्र जीविका का स्थान न पाकर केवल पुरुष के अधिकार की वस्तु बन जाण्गी ।[29]

स्त्री-पुरुष संबंधों, प्रेम और विवाह, जाति और सम्प्रदाय आदि को यशपाल आधुनिक संदर्भ में देखते हैं । उनका मानना है कि जब जीवन के विकास में स्त्री-पुरुष दोनों का समान महत्व है, दोनों की समान भूमिकाएं हैं फिर भी आर्थिक मामले में स्त्री पुरुष के अधीन है । समाज में पुरुष के समान अधिकार पाने के लिए आर्थिक दृष्टि से स्त्री की आत्मनिर्भरता आवश्यक है, क्योंकि अन्य सामाजिक परम्पराओं, मर्यादाओं और आदर्शों के साथ-साथ आर्थिक पराधीनता भी नारी को अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य करती है। आत्मनिर्भरता के अभाव में ही नारी पूँजीवादी व्यवस्था में वेश्यावृत्ति की ओर उन्मुख हो जाती है, ''उपदेश'' कहानी में एक नारी पात्र से यशपाल इसी भाव को सम्प्रेषित करते हैं – मैं क्या घृणित काम करती हूँ, जो करती हूँ, तुम्हारे जैसों के साथ करती हूँ – बट आई डू इट इन नीड एण्ड यू डू इट फॉर फन ।[30]

इसी तरह ''आदमी और पैसा'' कहानी की वेश्या भी पेट भरने के लिए ही वेश्यावृत्ति में संलग्न दिखाई पड़ती है । वह स्वीकार करती है कि उसे पेट पालने और जिन्दगी बसर करने लायक धन मिल जाये, तो वह यह दुष्कर्म नहीं करेगी । वहीं दूसरी ओर दिव्या उपन्यास भी ''दिव्या'' शोषण से मुक्ति और स्वत्व की स्वतंत्रता के

लिए वेश्यावृत्ति की तरफ उन्मुख होती है । यशपाल अपने कथा साहित्य में भारतीय नारी का सच्चा चित्र अंकित करते दिखाई पड़ते हैं । भारतीय नारी एक ओर नवीन मान्यताओं और स्वतंत्रता की लहर में बह रही है, तो दूसरी ओर नारी के परम्परागत संस्कार उसे अपनी ओर खींच रहे हैं । पुरुष वर्ग भी अभी अपने सामंतीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो सका है। आधुनिकता का मुखौटा चढ़ाकर वह भीतरी बर्बरता को प्रकट करने और नारी को उत्पीड़ित करने की नई-नई कलाएं सीखता जा रहा है । "तेरी मेरी उसकी बात" का "अमर" "झूठा-सच" का पूरी आदि का चरित्र–चित्रित कर यशपाल ने सभ्य आधुनिक पुरुषों की पोल खोल दी है । नारी के प्रति अनुराग से उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने अधीन रखकर उसे आत्मनिर्भर नहीं रहने देता । नारी-प्रकृति के विधान से नही समाज के विधान से भोग्य है । प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रय है । पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है, परंतु नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी-पुरुष का आश्रय भी ।[31]

यशपाल ने अपने कथा-साहित्य में जिस समस्या को सर्वाधिक ज्वलंत और गंभीर समस्या के रूप में देखा वह "स्त्री-पुरुष संबंध तथा नारी पराधीनता से संबंधित है । यशपाल की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों अन्योन्याश्रित हैं । सामाजिक जीवन में दोनों की भूमिकाएं महत्वपूर्ण हैं, और जीवन के विकास में दोनों का महत्व समान है । यशपाल मानते हैं कि जब तक स्त्री को जीवन में साधन जुटाने का स्वतंत्र अवसर और अधिकार नहीं मिलता है तब तक उसकी स्वतंत्रता प्रेम और आचार सब पुरुष का खिलौना है ।

यशपाल के संपूर्ण नारी विषयक चिंतन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि यशपाल नारी को सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्वतंत्रता दिलाने के लिए प्रयत्नशील हैं । कन्यादान, सतीप्रथा आदि विवाह की परम्परागत रूढ़ियों का विद्रोह, प्रेम के क्षेत्र में चली आ रही रूढ़ीगत मान्यताओं के प्रति असहमति स्त्री-पुरुष के समान अधिकार और नारी की आर्थिक स्वतंत्रता की स्वीकृति यशपाल के नारी विषयक चिंतन का प्रमुख आकर्षण है । प्रश्न चाहे पुरानी पस्म्पराओं और मान्यताओं के रहे हों या आधुनिक मूल्य के यदि वे मानव जीवन के स्वस्थ विकास के प्रतिकूल जान पड़े हैं तो यशपाल ने अनकी निर्मम आलोचना की है ।

वस्तुतः यशपाल की कहानियां उनके उपन्यासों की पूरक हैं । सामाजिक यथार्थ के जो पक्ष उनके अपन्यासों में अनछुए रह गये हैं वे उनकी कहानियों में विद्यमान हैं । उनकी अधिकांश कहानियां ऐसी हैं जो जीवन के वैविध्यपूर्ण यथार्थ को, मनुष्य के अंतरंग और बहिरंग को, मार्मिकता के साथ चित्रित करती हैं, परंतु हम यहां अपने विवेच्य विषय

"यशपाल के कथा-साहित्य में नारी की ही विशेष रूप से चर्चा करेंगें । यशपाल के कथा-संग्रह (पिंजरे की उड़ान 1939) जो उनका प्रथम कहानी संग्रह है, नारी-जीवन की विविध समस्याओं पर आधारित है ।

प्रस्तुत संग्रह में नारी पराधीनता और नारी शोषण के मार्मिक और अनछुए पक्षों को उभारकर उन्होंने नारी जीवन की दयनीय स्थिति को प्रस्तुत किया है । शोषित मनुष्यता के प्रति यशपाल की गहरी आत्मीयता है। तत्कालीन और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में उन्होंने नारी को ही सर्वाधिक शोषित रूप में देखा है। **"प्रेम का सार", पहाड़ की स्मृति, तीसरी चिता, प्रायश्चित** और **परायी कहानी** नारी-जीवन से ही संबंधित है। "प्रेम का सार" और "पहाड़ की स्मृति" का स्वर लगभग एक सा है। इनमें पुरुष वर्ग के स्वार्थों को दिखाना ही लेखक का मनत्वय रहा है, जो अपनी वासनावृत्ति के लिए स्त्री को शिकार बनाते हैं, उसे दयनीय जीवन बिताने के लिए बाध्य कर देते हैं। कहानी " **तीसरी चिता** " में नारी पर एकाधिकार और उसकी पराधीनता को प्रस्तुत किया गया है । अपनी संकीर्णताओं के कारण जयदेव अपनी पत्नी माला को शक की दृष्टि से देखता है । और उसका सारा प्रेम घृणा और उपेक्षा में बदल जाता है, परंतु एक भीषण अग्नि-काण्ड में माला जयदेव की रक्षा करते हुए अपने प्राण गंवाकर, जयदेव के प्रति अपने समर्पण को सिद्ध कर देती है । यशपाल की कहानी "दूसरी नाक" भी नारी पर पुरुष के एकाधिकार भावना को दर्शाती है। 'जब्बार' अपनी पत्नी की सुंदर नाक इसलिए काट देता है क्योंकि सब लोग उसकी तरफ ललचाई दृष्टि से देखते हैं, जो उसे पसंद नहीं था। "जहां हसद नहीं" कहानी भी प्रेम और नारी पराधीनता को प्रस्तुत करती है। "सआदत" अपने पति के होते हुए भी हबीब के प्रति आकर्षित है, लेकिन दूसरी ओर वह अपने पति के प्रति भी निष्ठावान है। अंततः वह अपने पति के हाथों स्वेच्छा से कत्ल हो जाती है, ताकि दूसरी दुनिया में पहुंच कर वह अपने प्रेमी से मिल सके। इस लोक में पति के रहते हुए वह स्वतंत्रता से अपने प्रेमी से नहीं मिल सकती थी। उसकी यही भावुकता उसे दूसरी दुनिया में जाने के लिए प्रेरित करती है। "मोटरवाली-कोयलेवाली" ऐसी कहानी है जिसमें प्रेम को लेखक आर्थिक संदर्भ में देखते हैं। आज की पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत प्रेम ने भी एक व्यवसाय का रूप धर लिया है। पहले पैसा है फिर प्रेम - अमीर "रूपा" और निर्धन कोयलेवाली "पुखराज" के माध्यम से लेखक ने यही स्पष्ट किया है। यशपाल के कहानी संग्रह "ज्ञानदान " 1944 में "पराया सुख" "जबरदस्ती" "हलाल का टुकड़ा" "अपनी चीज" जैसी कहानियां ऐसी हैं जो नारीशोषण, प्रेम, पराधीनता और सेक्स की समस्याओं से संबंधित हैं। "पराया सुख" आर्थिक विषमता और नारी की विवश जिंदगी का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। साठ रुपये मासिक पाने वाली स्कूल शिक्षिका "उर्मिला" एक व्यवसायी 'सेठी' के एहसानों से

इतना दब जाती है कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। सौ रुपये मासिक पाने वाला उर्मिला का पति भी सेठी की आर्थिक सहायता से दब जाता है, परंतु सेठी की सहायता के मूल में उसका "उर्मिला" के प्रति आकर्षण या सहानुभूति नहीं अन्ततः स्थिति यहाँ तक आ पहुँची कि उर्मिला सेठी के मान्य और अमान्य प्रस्तावों को अस्वीकार करने की स्वतंत्रता भी खो देती है।

"अभिशप्त" कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियां भी नारी-जीवन से ही संबंधित हैं । प्रस्तुत संग्रह की "रिजक", "पुनिया की होली", "छलिया नारी", "चूक गई" जैसी कहानियां प्रेम, सैक्स और आर्थिक परतंत्रता से संबंधित हैं । "रिजक" में ऐसी नारी का चित्रण है, जिसका पति बेकार है, विवश होकर उसे अपने शरीर को बेचने के लिए तैयार होना पड़ता है, आर्थिक बदहाली से निजात पाने के लिए । "पुनिया की होली" कहानी की 'पुनिया' संपन्न घर की आया है, वह अपने बेकार पति और बच्चों के लिए कमाती है परंतु "रिजक" की मां की तरह 'पुनिया' अपनी भूख मिटाने के लिए सतीत्व को दांव पर नहीं लगाती है बल्कि "चोरी" करती है । कितनी विचित्र बात है कि अपना पेट भरने के लिए नारी को कभी शरीर का सौदा करना पड़ता है तो कभी चोरी का सहारा लेना पड़ता है । "छलिया नारी" कहानी पुरुष के एकाधिकार से प्रताड़ित और पीड़ित नारी की करु गाथा को प्रस्तुत करती है । यशपाल ने अपने साहित्य में नारी समस्या को प्रत्येक पहलू से देखने का प्रयत्न किया है, और इस प्रयत्न में उन्होंने नारी को सभी जगह शोषित, दयनीय, पराधीन और समाज से पीड़ित और प्रताड़ित अवस्था में पाया है । यशपाल ने अपने प्रत्येक उपन्यास और अधिकांश कहानियों में नारी स्वतंत्रता हेतु रूढ़िगत संस्कारों पर आघात किया है । यशपाल ने संपूर्ण कथा-साहित्य पर एक सरसरी निगाह डालें तो ज्ञात होगा कि उनकी नायिकाएं समाज के रूढ़िगत संस्कार सामाजिक मान्यताओं और धर्मशास्त्रीय धारणाओं से संघर्ष और विद्रोह करने की अपूर्व क्षमता रखती है । यशपाल नारी-चरित्रों को कहीं मार्क्सवादी दृष्टि से तो कहीं फ्रॉयड की दृष्टि से देखते हैं । "देशद्रोही" उपन्यास की चंदा, राज, यमुना, नूतन, नर्गिस आदि नारी पात्रों में यशपाल कहीं भी मार्क्सवादी आदर्श स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ये नारी पात्र पुरुष की केवल भोग्या ही रही हैं, उनके जीवन संघर्ष में साथ-साथ नहीं चल सकीं हैं, परंतु कुछ यौन शैथिल्य अपवादों को छोड़कर उनका संपूर्ण चिंतन में मार्क्सवादी विचारधारा की छाप दिखाई पड़ती है।

यशपाल भी इस संबंध में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि — " मार्क्सवादी समाज व्यवस्था ही एक मात्र व्यवस्था है जिसमें नारी का अपना व्यक्तित्व और अस्तित्व है, वह अमुक की ही कुछ न कुछ होकर माँ, बहन, बेटी, पत्नी से इतर स्वयम् भी कुछ होती है"। जहां पुरुष के लिए उपलब्ध सभी अवसर समान रूप से नारी के लिए भी सहज

सुलभ हैं। मार्क्सवादी व्यवस्था ही नारी को पुरुष के समान समाज का अंग मानकर उसे संपूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार प्रदान करती है। आत्मनिर्भरता देकर उसे सही अर्थों में स्वतंत्र नारी स्वरूप प्राप्त करने में मदद करती है।

---

1. यशपाल : सारिका 16 दिसम्बर 1978, पृ.11
2. प्रो. वासुदेव : हिन्दी कहानी और कहानीकार, पृ. 35, 1987
3. यशपाल : सारिका 16 दिसम्बर 1978, पृ.11
4. *यशपाल : आजकल, अक्तूबर 1974, लेखक और प्रतिबद्धता*
5. यशपाल : ओ मैरवी, पृ. 6
6. यशपाल : चक्कर क्लब, पृ. 73
7. यशपाल : दादा कामरेड, पृ. 90
8. वही, पृ. 9
9. वही, दादा कामरेड की भूमिका, पृ.6
10. यशपाल : दादा कामेड पृ. 89, विपल्लव कार्यालय, लखनऊ 1960
11. यशपाल : धर्मयुग, 2 मई 1965, पृ. 46
12. *यशपाल : अप्सरा का श्राप, पृ.126, विपल्लव कार्यालय, लखनऊ 1960*
13. वही : धर्मयुग, 2 मई 1965, पृ. 45
14. लेनिन : नारी मुक्ति, पृ.56
15. यशपाल : चित्र का शीर्षक, पृ.111
16. *यशपाल : ज्ञानदान, पृ.122*
17. यशपाल : झूठा सच, देश का भविष्य भाग दो, पृ.344,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ 1960
18. यशपाल : दादा कामरेड, पृ.115
19. *यशपाल : भूख के तीन दिन, क. सं. खूब बचे, पृ.1128*
20. यशपाल : दाग ही दाग कहानी, पृ.109
21. यशपाल : दादा कामरेड, पृ.26, 1941
22. वही, पृ107
23. *यशपाल : दिव्या, पृ.215, 1945,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ*
24. यशपाल : मनुष्य के रूप, पृ.169, 1949,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ
25. यशपाल : दिव्या, पृ.160, 1945,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ
26. यशपाल : चक्कर क्लब, पृ. 95,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ

लखनऊ
28. यशपाल : आदमी और खच्चर, उपदेश, पृ.34,विपल्लव कार्यालय, लखनऊ

तृतीय अध्याय

बौद्ध धर्म में नारी

दिव्या में बौद्ध धर्म और नारी

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का उदय उस समय हुआ जब दास प्रथा वाले बड़े-बड़े साम्राज्यों का निर्माण एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था और पुरोहित वर्ग का बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक आधिपत्य समाज के विकास में रुकावटें खड़ी करने लगा था । बौद्ध धर्म अपने दृष्टिकोण में पुरोहित विरोधी था।[1]

यूँ तो सर्वप्रथम गीता में ही श्रीकृष्ण ने सभी लोगों के लिए आध्यात्मिक समानता का उपदेश दिया था ।[2] वे तात्कालिक समाज में सामाजिक समानता का समावेश करना चाहते थे परंतु उन्हें इस दिशा में अधिक सफलता नहीं मिली ।

शताब्दियों पश्चात महात्मा बुद्ध ने लोगों को बताया कि धर्म समान रूप से सभी जातियों और वर्गों के लोगों और सभी पुरुष तथा महिलाओं के लिए होता है । जब हिन्दु धर्म की घनीभूत होने वाली रूढ़ीवादिता तथा विस्तृत कर्मकाण्ड की श्रृखला ने जब स्त्रियों और शूद्रों को एक परिधि में बांधना शुरू कर दिया था तभी ब्राह्मण वर्ग की बढ़ती हुई महत्ता को बौद्ध धर्मावलंबियों ने सर्वप्रथम चुनौती दी । ईश्वर प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के माध्यम की आवश्यकता नही है, जो भी व्यक्ति संयमी और मनोनिग्रह युक्त जीवन व्यतीत कर सकता है, वह आष्टांगिक मार्ग द्वारा निर्वाण पद प्राप्त कर सकता था । और संयमी जीवन का अधिकार तो स्त्री पुरुष दोनो को है । बुद्ध जहां भी जाते, अपने धर्म की सीधी सादी बात पर जोर देते –"भलाई से भलाई पैदा होती है", बुराई से बुराई । उनके लिए यही कर्म का सर्वव्यापक नियम था।[3] जो सभी प्राणियों पर समान रूप से लागू होता था जाहिर है जब जीवन का यही नियग था तो ईश्वर की प्रार्थना-आराधना, यज्ञ, पूजा-पाठ और तमाम सभी कर्मकाण्ड निरर्थक थे । बुद्ध ने अपने इन विचारों का प्रतिपादन उस समय आरम्भ किया जब ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का रूढ़िवाद सामाजिक जीवन को दूषित कर रहा था । वर्णाश्रम नियमों को दैवी विधान माना जाता था, क्योंकि उनकी उत्पत्ति वेदों से थी, जिन्हें दैवी प्रामाणिकता प्राप्त थी ।

अतः बुद्ध ने वेदों की पवित्रता और प्रमाणिकता को चुनौती दी । उन्होंने वैदिक देवी-देवताओं को मानने से इनकार कर दिया । अपने अनुयायियों को उन्होंने उपदेश दिया कि वे किसी भी ऐसी चीज को स्वीकार न करें जो तर्कसंगत न हो । उन्होंने यहां तक कहा कि उनका यह उपदेश खुद उनकी शिक्षाओं के लिए भी वैध है । बुद्ध ने जनता का आह्वान किया कि - वह किसी ऐसी बात को न स्वीकार करें जो तर्क र अनुभव से मेल न खाती हो । उनका कहना था कि – "सुनी हुई बात पर विश्वास न करो, परम्पराओं में विश्वास न करो, क्योंकि वे पीढ़ी दर पीढ़ी चली आयी हैं" ।

रूप में ही सही वह दलित, और उत्पीड़ित जनता के असंतोष को तथा सामाजिक समानता और श्रेष्ठतर जीवन के लिए उसकी आशाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करता था । यही वजह थी कि बुद्ध की शिक्षाओं ने न केवल धनिक क्षत्रिय और वैश्य को आकर्षित किया बल्कि जनसमुदाय के निर्धन पीड़ित और दलित-नारी को भी अपनी ओर आकर्षित किया जो स्वामिनी से दासी बना दी गयी थी, उसके जीवन के तमाम सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का धर्मप्रणेताओं ने हरण कर उसे शूद्रों की श्रेणी में रख दिया था । यूँ तो बौद्ध धर्म की प्रारंभिक अवस्था में स्वयम् तथागत बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में शामिल करने का विराध किया था, क्योंकि उन्हें स्वयम् स्त्री के चरित्र और ध्येयनिष्ठा के बारे में संशय था । किन्तु स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं देना तथा उन्हें दीक्षा न देना, उनके संदेश के मूलभूत सिद्धांतों के ही विरुद्ध था क्योंकि उनका धर्म तो संसार के सभी संतप्त दुःखी प्राणियों के लिए था । अन्ततः अपने शिष्य आनंद के प्रयास से बुद्ध ने संघ में स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति प्रदान की ।[4]

बौद्ध काल की सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कन्या का जन्म परिवार के लिए दुखद घटना नहीं मानी जाती थी, बौद्ध धर्म ने कर्मकाण्ड को कोई महत्व नहीं दिया, पिंडदान निरर्थक माना गया अतएव धार्मिक कृत्यों के लिए पुत्र की अनिवार्यता का प्रश्न ही नहीं उठता था । पुत्र या पुत्री गोद लेने की प्रथा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल में समाज में स्त्रियों की स्थिति ऊंची होगी ।[5] जिस काल में सभी धर्म और जातियां स्त्रियों को दासी बनाने में लगी हुईं थी, उस काल में बुद्ध और उनका धर्म स्त्रियों की पतित दशा से उद्धार और पूर्ण सुधार कार्य में लगा हुआ था । उस धर्म ने स्त्रियों को सामाजिक जीवन में पुरुषों के समान बराबरी का दर्जा ही नहीं दिया वरन धार्मिक जीवन में भी उन्हें पुरुषों के समान दर्जा प्रदान किया । वेदकालीन धार्मिक स्वतंत्रता की चेतना फिर एक बार इस काल में दृष्टिगत होती है। बौद्ध काल में नारी शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान था, स्त्रियां इस काल में पुरुषों के समान ही मठों और बिहारों में दर्शनशास्त्र, साहित्य, न्यायशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विषयों का अध्ययन करती थीं । वास्तव में बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने नारी को संघ की सदस्या बनाकर ''नारी-शिक्षा'' का बंद द्वार एक बार फिर खोल दिया था ।

समाज और परिवार से त्रस्त अनेक नारियों ने संघ की शरण ली, संघ में उनके शैक्षिक जीवन का कई विकल्प मौजूद था, वे भिक्षुणी हो सकती थी या अध्यात्म एवम् नैतिक शिक्षा के साथ - साथ स्वास्थ्य शिक्षा का ज्ञान नारी वर्ग को दे सकती थी या गृहस्थ जीवन को सुचारू रूप से चलाने के नियम तथा व्यवहारिक पक्ष के विभिन्न पहलू गृहणियों को बताती थीं ।[6]

तत्कालीन स्त्रियों की सम्मानजनक स्थिति का संकेत करती है । बौद्ध साहित्य अनेक सुशिक्षित एवम् योग्य स्त्रियों का वर्णन करता है । **''थेरीगाथा''** नामक ग्रंथ तो बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा ही लिखा गया है । निश्चय ही **थेरीगाथा** के माध्यम से तत्कालीन भिक्षुणी नारियों ने अपनी मुक्ति की राह खोज निकाली थी । उनकी कविताओं में उनके अन्तरमन की अनुभूतियां साकार हो उठी है । स्त्री आंदोलन के बहुत पहले, लाख प्रतिकूलताओं के बावजूद स्त्री-सूत्रकारों, भक्त-कवियों और थेरगाथाओं की रचियताओं ने स्त्री-मुक्ति की दिशा में जो साहसिक कदम उठाया निश्चय ही उसका श्रेय बौद्ध–धर्म को है ।

बौद्ध धर्मग्रंथ **''सुत्तपिटक''** के अन्तर्गत जो पांच निकाय हैं उनमें एक **'खुद्दक निकाय''** है इसी **''खुद्दक निकाय''** के नवें भाग में 73 बौद्ध भिक्षुणियों की **'थेर गाथाओं'** का संकलन है । थेर गाथाओं में संकलित थेरियां समाज की विभिन्न सरणियों से संघ में आयीं थी । इनमें **'सुमनार', 'जयन्ती', 'शैला', 'गौतमी'** आदि राजकुमारियां थीं । **'अनुपमा', 'उत्पलवर्ण'** आदि श्रेष्ठिकन्याएं तथा सिंह सेनापति की पुत्री थी । वेश्याओं के संवर्ग में **'विमला', 'आम्रपाली'** आदि हैं । निम्न वर्ग से आयी थेरियों में चापा बहेलिए की पुत्री थी । **'सुमंगल माता'** छाता बनाने वाले की पत्नी थी और **'पूर्णिका'** दासी थी । **'सुमंगला माता'** की पहचान आज तक अपने बेटे सुमंगल के नाम से होती है, उसके अपने नाम का कहीं कोई निशान नहीं है, उसका पति उसको इतना त्रास देता था कि थेरी बनने पर उसने लिखाः-

अहो मैं मुक्त नारी, मेरी मुक्ति धन्य है ।
पहले मैं मूसल से, धान कूटा करती थी ।
आज उससे मुक्त हुई ।
गये मेरी दरिद्र अवस्था के वे छोटे - छोटे बर्तन
जिनके बीच मैं मैली - कुचैली बैठा करती थी ।
गया मेरा निर्लज्ज पति, जो मुझे उन
छातों से भी तुच्छ समझता था,
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था ।[7]

इसी तरह एक थेरी और है जिसका नाम उपलब्ध नहीं है । उसके बारे में सिर्फ इतना ही पता चलता है कि वह कोशल जनपद की थीं ।

मैं सुमुक्त हो गयी । अच्छी विमुक्त हो गयी ।
तीन टेढ़ी चीजों से । अच्छी विमुक्त हो गयी ।
ओखली से । मूसल से । और अपने कुबड़े पति से ।
भली विमुक्त हो गयी ।[8]

ऐसी अनेक थेरियां हैं जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियों को अपनी कविताओं में चित्रित किया है। इन थेरियों की रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक कठिनाइयों और पारिवारिक पीड़ाओं से मुक्ति पाने की आंतरिक इच्छा से उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया है । यह भी संभव है कि तत्कालीन युग में बौद्ध धर्म का प्रभाव इतना व्यापक हो गया हो, जिसके कारण भी स्त्रियां संघ में शामिल होतीं हों या हिन्दु समाज ने स्त्रियों पर इतने अत्याचार किए हों, जिससे मुक्ति पाने के लिए स्त्रियों ने बौद्ध धर्म का आश्रय ढूंढ़ा हो ।

यह सही है कि बुद्ध का धर्म स्त्रियों और कमजोर वर्गों को समानता का अधिकार देकर एक समाजवादी धर्म सिद्ध होता है । स्त्रियों को जितनी स्वतंत्रता बौद्ध देशों में मिली उतनी अन्य देशों में नहीं । विद्वान **टी. जी. स्काट** लिखते हैं कि – " जिन अधिकारों के लिए विदेशी स्त्री छटपटा रही हैं, उन अधिकारों को बौद्ध देश की बहनें पहले से उपभोग कर रहीं हैं। " परंतु जहां एक और स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति देकर अनके मानस में बौद्ध धर्म के प्रति आदर एवम् श्रद्धा का भाव उत्पन्न किया, शैक्षिक और धार्मिक अधिकार प्रदान कर स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में सुधार का प्रशंसनीय कार्य किया वहीं दूसरी ओर बौद्ध - धर्म ने स्त्री अधिकारों को सीमित भी रखा । यद्यपि स्त्रियां निर्वाण प्राप्ति की अधिकारिणी मानी गई लेकिन भिक्षु और भिक्षुणियों को समान स्तर पर नहीं रखा गया।[9] भिक्षुणियों को संघ में आठ विशेष नियमों का पालन करना होता था ।

मुख्य अष्ट मार्ग ये थे :-

1) प्रत्येक भिक्षुणी को चाहे उसकी आयु सौ वर्ष ही क्यों न हो, प्रत्येक नये भिक्षु के सम्मुख प्रणाम करना होता था । पहले महाप्रजापति 'गौतमी' ने इस नियम का विरोध किया, किन्तु तथागत की इच्छा मानकर उन्हें यह नियम स्वीकार करना पड़ा ।

हो ।

3) वर्षा ऋतु की समाप्ति पर प्रत्येक भिक्षुणी को, उसके द्वारा देखे सुने और सोचे गये किसी भी दोष के लिए, भिक्षु - संघ तथा भिक्षुणी - संघ दोनों में क्षमा याचना करनी होती थी ।

4) पाक्षिक सभा तथा प्रवचन की तिथि निर्धारित करने से पूर्व प्रत्येक भिक्षुणी को भिक्षु से आदेश लेना होता था ।

5) कोई गम्भीर अपराध होने की स्थिति में प्रत्येक भिक्षुणी को दोनों संघो से क्षमा याचना करनी होती थी ।

6) प्रत्येक भिक्षुणी को दो वर्षों छः नियमों के पालन का अभ्यास कर लेने के बाद उपसम्पदा (बड़ी दीक्षा) के लिए दोनों संघों से अनुमति लेनी होती थी ।

7) भिक्षुणियों को किसी भी भिक्षु के विषय में अपशब्द कहने का अधिकार नहीं था ।

8) भिक्षुणी को भिक्षु के दोष निकालने तथा बताने का कोई अधिकार नहीं था जबकि भिक्षुओं को ऐसा करने की छूट थी ।[10]

इन अष्ट मार्ग के अलावा भी संघ में भिक्षुणियों के लिए कई नियम थे जो बहुत कड़े थे । इन नियमों से उनकी पवित्रता, शुद्धता और मानसिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन का नियमन होता था । भिक्षु संघों का भिक्षुणी संघों की व्यवस्था बुद्ध के लिए स्वभावतः चिन्ता का विषय बनी रहती थी इसीलिए उन्होंने भिक्षुणियों के लिए इतने कठोर नियम बनाये, इन नियमों के अनुसार भिक्षुणियां भिक्षुओं के अधीन रखी गयी । ऐसे दोहरे मापदण्ड होने के बावजूद भी भारत के पूर्वी प्रदेशों में विकसित होने वाला बौद्ध - धर्म ईसा की पहली शताब्दी में भारत के अन्य क्षेत्रों में भी फैल गया था ।

जहां एक साहसी कदम उठाया था, वहीं दूसरी ओर कुलीन स्त्रियों को संघ में प्रवेश पाने के लिए उन्हें पिता और पति की अनुमति पर आश्रित कर दिया था । अविवाहित पुत्री या पत्नी बिना पिता या पति की अनुमति के संघ में प्रवेश नहीं पा सकती थीं ।[11] वस्तुतः यह बौद्ध धर्म का अन्तर्विरोध ही था कि स्त्री की स्वतंत्रता और समानता की बात करते हुए भी, वह स्त्री को न तो मनुष्य का दर्जा दे पाया और न ही उसके पृथक अस्तित्व की रक्षा कर सका । यशपाल कृत उपन्यास दिव्या की नायिका 'दिव्या' भी दासी जीवन की त्रासदी से मुक्ति के लिए संघ की शरण में उपस्थित होती है, लेकिन उसे संघ में शरण नहीं मिलती है । क्योंकि वह नारी थी और वह भी दासी, जिसे अपने स्वामी की आज्ञा प्राप्त नहीं थी । मथुरा में चक्रधर पुरोहित के परिवार में दासी का नारकीय जीवन बिताते हुए दिव्या को बौद्ध - धर्म ऊसर वीराने में टिमटिमाते दीपक की तरह दिखाई देता है, लेकिन वहां पहुंचने पर उसे पता चलता है कि दलितों और पीड़ितों को संघ की शरण में आह्वान करने वाला बौद्ध - धर्म नारी के प्रति कितना उदासीन ओर हृदयविहीन है । सामाजिक समता का उसका उद्घोष कितना अव्यवहारिक और खोखला है ।

बौद्ध का संघ भी पुरुषवादी वर्चस्व से मुक्त नहीं है । स्त्री को संघ में प्रवर्जित होने के लिए पुरुष की अनुमति अनिवार्य है, वह पुरुष उसका पिता, पति और पुत्र कोई भी हो सकता है, परंतु दिव्या इस मामले में बड़ी दुर्भाग्यशाली थी क्योंकि उसका पति तो था ही नहीं और उसका पुत्र शाकुल इस योग्य नहीं था कि वह मां को अनुमति दे सके । ऐसी अवस्था में दिव्या जैसी दासी के लिए उसका स्वामी ही उसे संघ की शरण ग्रहण करने की आज्ञा दे सकता था, जिसके घर में भागकर प्राणरक्षा के विचार से वह संघ की शरण में आई थी । दिव्या अपनी ओर अपनी संतान का जीवन दान चाहती है, परंतु उसकी आर्त पुकार में स्थविर को सांसारिक उपकरणों की आकांक्षा दिखाई देती है । स्थविर दिव्या को बताते हैं कि मोह में संक्लेशित चित्त शांति और शरण नहीं पा सकता । जब दिव्या मोह - मुक्त हो चेरीधर्म को निभाने का आश्वासन देती है तो फिर बात पुरुष की अनुमति पर अटक जाती है । पुनः दिव्या दासी के रूप में ही शरण के लिए प्रार्थना करती है, परंतु स्थविर अपना निर्णय देते हुए कहते हैं - ''अभिभावक की अनुमति के बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता '' । अपनी तर्क बुद्धि से दिव्या वेश्या अंबपाली को तथागत द्वारा संघ में शरण दिए जाने का उल्लेख करती है तो आसन से उठते हुए स्थविर उत्तर देते हैं - ''वेश्या स्वतंत्र नारी है देवी '' । यानी वेश्या जैसा अधिकार भी उस सामाजिक संरचना में एक उत्पीड़ित स्त्री को प्राप्त नहीं था । यहां बौद्ध धर्म का व्यवहारिक अन्तर्विरोध खुलकर सामने आ जाता है ।

जाता है । एक वीर योद्धा और सेनापति की निरीह अवस्था अवश्य खटकती है परंतु उसकी दुर्बलता के प्रति सहानुभूति नहीं वरन् उपेक्षा का भाव ही उत्पन्न होता है । एक सफल योद्धा होने पर भी पृथुसेन में दूरदर्शिता का अभाव था, इसीलिए बड़ी आसानी से वह रुद्रधीर के षड़यंत्र का शिकार बन जाता है और अन्त में प्राण रक्षा के लिए संघ में शरण लेता है। उसका यह पलायन उसकी दुर्बलता का ही परिचायक है। इतना ही नहीं बौद्ध भिक्षु बनकर भी दिव्या के प्रति उसकी आसक्ति बनी रहती है तभी तथागत के सेवक के रूप में वह दिव्या को संघ की शरण में आने का आह्वान करता है, लेकिन जो धर्म स्त्री के अस्तित्व से ही इनकार करता है, वह उसके स्वत्व की रक्षा कैसे कर सकता है ? अहिंसा और करुणा को अपना मूलाधार घोषित करने वाला बौद्ध धर्म अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करती स्त्री के लिए या तो आत्मघात की राह दिखाता है या उसे वेश्या बनने की प्रेरणा देता है । दिव्या से बेहतर उसे कौन जान सकता था । इसलिए अपने बहाने दिव्या ने सम्पूर्ण नारी जाति के अस्तित्व और अस्मिता पर प्रश्न करते हुए पृथुसेन से प्रश्न किया कि - 'भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का स्थान क्या है '' ? तब पृथुसेन यह स्वीकार करता है कि - 'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है ' । नारी प्रवृत्ति का मार्ग है । भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है ।[12] दरअसल दिव्या ने अपने संघर्ष भरे जीवन से यह चेतना अर्जित कर ली थी कि निवृत्ति और निर्वाण स्त्री की प्राकृतिक राह नहीं है असका मूल धर्म सृष्टि है, और उसे निर्वाण बाधित करता है तथागत और उनके अनुयायियों ने जिस निर्वाण को जीवन का शाश्वत तत्व मानकर उसकी स्तुति की है। वस्तुतः वह जीवन के स्वीकार का मार्ग न होकर उससे पलायन है । जिस संघर्ष ने दिव्या को कुंदन बनाया, ''निरन्तर पराभव और अभिशाप सहकर भी अपना जीवन-दीप स्नेह से प्रज्जवलित रख सकी '' जीवन के अन्तिम परिणति में वह पलायनवादी भला कैसे हो सकती थी। गहरे व्यंग्य की मुद्रा में वह पृथुसेन को निर्वाण धर्म पालन करने को कहती है, और अपने लिए स्वयम् संघर्ष से बनाये मार्ग पर ही चलते रहने का संकेत करती है, क्योंकि इसी संघर्षशील मार्ग ने उसे जीवन के महत्व से अवगत नहीं कराया बल्कि ऐसे जीने की दृष्टि और सलीका भी दिया था।

पृथुसेन से भिक्षु के धर्म में नारी का स्थान पूछकर दिव्या ने जहां एक ओर नारी की सामाजिक मर्यादा को रेखांकित किया है वहीं बौद्ध धर्म के मूल अन्तर्विरोध पर भी अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है। दलितों, उत्पीड़ितों और स्त्रियों के लिए समता और करुणा का अग्रदूत बौद्ध धर्म उनके प्रति क्रूरता और उदासीनता की किस सीमा को पार कर गया है। ''दिव्या'' का जीवन स्वयम् इसका साक्षी है ।

लगी थी । उसका विकास राज्याश्रय और धन कुबेरों के आश्रय में हुआ था और वह उनके ही हितों की चिंता में सामान्य जन से क्रमशः दूर होता गया । मगध में मौर्य साम्राज्य और मद्र में मिलिन्द के शासन की समाप्ति के बाद वर्णव्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है । मनुष्य के दुःख संताप को दूर कर जिस शांति और निर्वाण की वह बात करता था उसके लिए भी वह प्रायः तत्कालीन राजसत्ता का मुखापेक्षी था । युद्ध भूमि से घायल हुए पृथुसेन की चिकित्सा करते वक्त स्थविर चीबुक को राजसत्ता का कोई प्रकोप नहीं होता है, क्योंकि जहां एक ओर पृथुसेन का पिता 'प्रेस्थ' सत्ता का प्रमुख अंग होता है वहीं दूसरी ओर स्वयम् पृथुसेन का सुनहरा भविष्य भी सामने है । रुद्रधीर के षड़यंत्र का शिकार होने पर भी वह पृथुसेन को संघाराम में शरण लेने का, जब चीबुक उसे सुझाव देता है तो उसे सत्तापरिवर्तन का ज्ञान नहीं था । लेकिन जब सत्तापरिवर्तन के पश्चात पृथुसेन के खोज का अभियान जोर पकड़ता है, और उसे आश्रय देने वाले को अपराधी घोषित किया जाता है तब पृथुसेन उसके लिए परेशानियों का सबब बन जाता है, वह राजसत्ता के विरुद्ध पृथुसेन को नहीं होने देता है, और न ही उसकी महत्वाकांक्षा को प्रेरित करता है यहां तक कि वह पृथुसेन को संघाराम से बाहर जाने की अनुमति भी नहीं देता है, क्योंकि आश्रय देने के अपराध में संघाराम पर विपत्ति आ सकती थी । इसलिए वह पृथुसेन से कहता है – 'आर्य को विपत्ति में जानकर रक्तपात निवारण के लिए संघाराम में स्थान दिया था इसलिए नहीं कि आर्य रक्तपात करने और विपज्जनक स्थिति उत्पन्न करने के अवसर की प्रतीक्षा करें।[13]

अन्ततः स्थविर चीबुक 'संघाराम' पर आए संकट का हल ढूंढ़ निकालते हैं और पृथुसेन की दीक्षा की व्यवस्था करते हुए प्रथम भिक्षार्थ उसे आचार्य रुद्रधीर के ही सम्मुख प्रस्तुत होते हैं ।भिक्षु पृथुसेन कहता है - " मैं भिक्षु पृथुसेन सार्वभौम मैत्री का सुख पाकर आचार्य के प्रति शत्रुता के भाव से रहित होकर भय और चिन्ता से मुक्त हुआ हूं । आचार्य को भी अपने कारण भय और चिन्ता से मुक्त करने के लिए मैं आचार्य के सम्मुख उनके उस स्थान में, उनके हाथों में उपस्थित हूं । पृथुसेन को पाकर भिक्षु को सार्वभौम मैत्री के सुख की भिक्षा दे। [14]

यह कहकर पृथुसेन आत्मसमर्पण का भाव प्रदर्शित करता है । आचार्य रुद्रधीर किंकर्त्वय विमूढ़ हो, इस घटना क्रम को चीबुक और पृथुसेन की रणनीतिक विजय के रूप में देखते हैं । बौद्ध धर्म का यह रणनीतिक स्वरूप उनमें गहरा असंतोष उत्पन्नककरत है जिस पर न तो विश्वास किया जा सकता है और न ही भिक्षुओं की सारी उद्घोषणा और आश्वासन के बावजूद उसकी ओर से उदासीन रहा जा सकता है।

की तरह यशपाल बौद्ध धर्म की खामियों पर भी उपन्यास में खुलकर आलोचना करते हैं । लेकिन विश्व में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता भी असंदिग्ध है । विश्वविख्यात दार्शनिक **डॉ राधाकृष्णन** का इस संबंध में विचार द्रष्टव्य है - " एक ऐसे देश में जहां *हजार वर्ष से भी अधिक काल तक ब्राह्मण और पौराणिक धर्म एक प्रचलित धर्म के रूप में* रहा हो, वहां बौद्ध धर्म को उसकी जड़ें खोखली करने में सफलता मिल गई और इतना ही नहीं, लगभग दो सौ वर्षों की ही अवधि में वह भारत का राज धर्म भी हो गया । इस्लाम एवम् इसाई धर्म जैसे प्रचारक धर्मों को संसार के किसी भाग में इस प्रकार की अद्‌भुत सफलता नहीं मिली " ।[15] "लोक प्रियता का मूल कारण था, मनुष्य मात्र के लिए भातृभाव का संदेश । बौद्ध धर्म को इतनी अच्छी सफलता इसलिए मिली क्योंकि वह प्रेमाश्रित धर्म था । इसने ऐसी सब मूक शक्तियों को भी वाणी प्रदान की जो रूढ़िगत व्यवस्था एवम् रीति विधान से पूर्ण धर्म के विरुद्ध कार्य कर रही थीं, इसने निर्धनों, निम्न *स्तर के लोगों और ऐसे लोगों को भी जिन्हें उत्तराधिकार में कुछ नहीं मिला था, अपना* संदेश सुनाया ।[16] यशपाल बौद्ध धर्म के विश्व-बन्धुत्व की भावना को वर्णाश्रम धर्म की समस्या के समाधान के रूप में स्वीकार करते हैं ।

पराजित निराश्रित पृथुसेन द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने से दूसरा तथ्य यह भी *उजागर होता है कि अभिजात वर्ग द्वारा उत्पीड़ित एवम् दलित हीन वर्ग द्वारा बौद्ध धर्म* को ग्रहण करना एक तात्कालिक मजबूरी थी । अनावश्यक वर्ग - संघर्ष तथा हिंसा - प्रतिहिंसा को रोकने के लिए बौद्ध धर्म ने वर्ण - हीन समाज और सार्वभौम मैत्री का आदर्श सामने रखा । सत्ता - बल से आत्म - बल को सर्वोच्च बल घोषित किया । परंतु *'दिव्या' में यशपाल बौद्ध - धर्म के उस रूप को भी सामने लाते हैं जो प्रगतिशील जीवन* में बाधक बनकर बामने आता है, लेखक 'मारीश' के माध्यम से बौद्ध - धर्म का खण्डन करते हैं — बौद्ध - धर्म के अनुसार सांसारिक सुख, आसक्ति तथा मोह भ्रम मात्र हैं — शांति वैभव में नहीं, शांति भोग में नहीं, शांति केवल अनासक्ति में है ।

चिरंतन सुख केवल निर्वाण में है, देवी । संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनंद से क्षुब्ध नहीं कर सकता ।[17] वस्तुतः यशपाल इसे समस्या रूप में प्रस्तुत करते हैं । यशपाल बौद्ध - धर्म के उन चार मुद्दों की भी निंदा करते हैं, जो उसके मूलभूत सिद्धांत हैं

1) निवृत्ति मार्ग,
2) *नारी का बहिष्कार*
3) निर्वाण का सिद्धांत
4) भाग्य और कर्मफल

परंतु प्राणों का दमन और आत्महनन समस्या का समाधान नहीं है ।[18] "मारीश" के इन विचारों में लेखक जीवन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि - " यह परिवर्तन ही गति है, गति ही जीवन है । यह जीवन ही सत्य है । यह संसार ही सत्य है । जो पाना है, इसी जीवन में पाओ ।[19] उपन्यास के आरम्भ में ही भिक्षु चीवर द्वारा व्यक्त इस मत का कि - "माया के बंधन में ति जीव को इसी प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है" का मारीश द्वारा यशपाल यह कहकर खण्डन करते हैं कि — " सुख की भ्रांति में भी जीवन का शाश्वत - क्रम इसी प्रकार चलता है । वैराग्य भीरू की आत्म - प्रवंचना मात्र है । जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असंदिग्ध है " ।[20] समस्त संसार को चिरंतन सुख - शांति और उत्पीड़ित एवम् संतप्त जनों को मुक्ति देने वाले अभिधर्म में नारी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था क्योंकि नारी प्रवृत्ति की प्रतीक थी, जो निर्वाण में बाधक है । परंतु यशपाल का मानना है कि नारी का धर्म निर्वाण नहीं सृष्टि है, जो मनुष्य को अमरता प्रदान करती है ।

दुःख का कारण "आसक्ति" है । "अनासक्ति" निर्वाण का प्रथम सोपान है । 'निर्वाण' दिव्यानन्द है । यशपाल मारीश द्वारा बौद्ध - धर्म के मूलभूत सिद्धांत 'निर्वाण' का भौतिकवादी दृष्टि से खण्डन करते हुए कहते हैं — "मनुष्य की विचार और अनुभव की शक्ति इस स्थूल शरीर के ही सूक्ष्म गुण हैं, वैसे ही जैसे स्थूल पुष्प में सूक्ष्म सुगंध वास करती है, जैसे तेल और बत्ती के जलने की क्रिया प्रकाश है । निर्वाण पश्चात दीपक का प्रकाश कहां जाता है ? दीपक या सूर्य से पृथक होने पर प्रकाश का अस्तित्व कहां रह जाता है ? देवी, इसी प्रकार देवात्मा को जानो । जीव से पृथक आत्मा कहां है ? उसका अस्तित्व कैसे संभव है " ?[21]

यशपाल 'दिव्या' में एक नये सिद्धांत को स्थापित करते दिखते हैं कि "मनुष्य अमर है, उसकी अमरता ही, उसकी की निशानी है" । प्रसिद्ध नर्तकी रत्नप्रभा कुलवधू के जीवन के लिए तरसती हुई मानव की परम्परा में अपनी आस्था व्यक्त करती कहती है "कुलवधु अपने निर्वाण से पूर्व अपने अस्तित्व से दूसरे दीप जलाकर अपना प्रकाश उनमें देख पाती है । स्वयम् उसके निर्वाण हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है .ऐसी परम्परा ही मनुष्य की अमरता है ।[22]

इसी तरह यशपाल 'भाग्य और कर्मफल' का भी खण्डन करते हैं जो बौद्ध - धर्म का मूल सिद्धांत है ।दिव्या अपने पुत्र 'शाकुल' के क्षुधा से पीड़ित होने पर विचार करती हुई कहती है - बौद्ध क्षमण कहते हैं "मनुष्य अपने कर्म से ही दुःख पाता है, परंतु मेरे बच्चे का क्या कर्म है ? अभी तो वह उत्पन्न ही हुआ है । उत्पन्न होने से पूर्व ही

क्षुधा पीड़ित हो?[23] यशपाल मारीश द्वारा भाग्य और कर्मफल का खण्डन करते हुए कहते हैं -'भाग्य का अर्थ है, मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान, भद्रे । इसके अतिरिक्त भाग्य और कर्मफल कुछ भी नहीं ''।[24] यानी, भाग्य और कर्मफल विवशता का ही दो भिन्न रूप मात्र है और कुछ नहीं । कतिपय विसंगतियों के बावजूद स्त्री - मुक्ति के लिए बौद्ध - धर्म का किया गया प्रयास साहसिक और सराहनीय था, जब नारी - प्रगति के सारे दरवाजे बंद थे उस समय बौद्ध - धर्म ने स्त्री के लिए धर्म द्वार खोल कर उसे धार्मिक समानता के साथ - साथ सामाजिक और शैक्षिक प्रगति को भी राह और दिशा दी ।

---

2. भगवद्गीता : अध्याय 9-30-32, गीता प्रेस, गोरखपुर
3. स्तचेर्बात्सकी : बुद्धिस्ट लॉजिक, खंड 1, पृ. 6, 1954
4. प्रो. इन्द्रा : दि स्टेट्स ऑफ वीमैन इन एंशेंट, क्लेरिस वेडर, वाराणसी, पृ.221
5. नीरा देसाई : भारतीय समाज में नारी, पृ.21
6. जॉन स्टीवर्ट : वैलेस - संपादक, पूर्व और पश्चिम की संत महिलाएं, लेखक स्वामी घनानंद और श्रीमती चन्द्रा हाण्डू, पृ.174
7. सुमन राजे : वागर्थ, अंक 24, मार्च 1997, पृ.46
8. वही, पृ.44
9. प्रो. इन्द्रा : दि स्टेट्स ऑफ वीमैन इन एंशेंट, क्लेरिस वेडर, वाराणसी, पृ.221
10. डॉ. बी सी ला : वीमेन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृ.289, 1965
11. हार्नर एल बी : वूमैन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ.154, 1973
12. यशपाल : दिव्या, पृ.16
13. वही, पृ.195
14. वही पृ.203
15. डॉ. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, पृ 437
16. वही, पृ 438
17. यशपाल : दिव्या , पृ 214
18. वही, पृ 159
19. वही, पृ 38
20. वही, पृ 17
21. वही, पृ 137
22. वही, पृ 138
23. वही, पृ 121
24. वही, पृ 141

चतुर्थ अध्याय

दिव्या में स्त्री-स्वाधीनता का प्रश्न

दिव्या में स्त्री-स्वाधीनता का प्रश्न

सन् 45 के जिस दौर में दिव्या का प्रकाशन हुआ, उस वक्त साम्राज्यवाद अंतिम सांसे ले रहा था । एक और देश जहां स्वतंत्रता की देहरी पर खड़ा था वही दूसरी ओर हिन्दी में प्रगतिवादी आंदोलन तेज हो रहा था । ऐसे संघर्षपूर्ण दौर में प्रेम और परिवर्तित नारी चेतना को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों की ''साड़ी जम्फर उतार'' साहित्य के रूप में भर्त्सना की गयी, क्योंकि प्रगतिवादी आंदोलन के नियामकों और सूत्रधारों का मानना था कि यह प्रेम नहीं संघर्ष का दौर है, इसीलिए प्रेमपरक साहित्य की जगह संघर्षशील और कर्मठ जीवन को चित्रित करने वाला साहित्य रचा जाये । राम विलास शर्मा ने तो इसके लिए घोषित रूप से शरतचन्द्र के विरुद्ध एक मुहिम छेड़ी जिससे हिन्दी के लेखकों को उसके संक्रमण से बचाया जा सके । उसी दौर में 'दिव्या' उपन्यास प्रेम के इस क्रूर और निरंकुश दमन के विरुद्ध ऊंचे स्वर में उठाई गई एक आवाज के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है । प्रेम के विरुद्ध इस प्रतिगामी दौर में भी यशपाल प्रेम को जीवन और साहित्य का मूल और केन्द्रीय भाव मानकर चलते हैं।

इधर दलित - चेतना और नारीवादी आंदोलनों के प्रभाव से यह चेतना विकसित हुई है कि समाज में नारी सबसे दलित है। यशपाल 'दिव्या' में नारी की इस दलितावस्था को सामाजिक संरचना से जोड़कर देखते हैं और सारी विपरीत परिस्थितियों में भी वे उसकी प्रेमानुभूति को जड़ होने से बचाने पर बल देते हैं, क्योंकि वही सृष्टि की नियामिका शक्ति है जो संतति के रूप में मनुष्य को अमरता का आश्वासन देती है। प्रेमानुभूति की वर्जना वाले उस दौर में उत्कट प्रेम - भाव को ही दिव्या के केन्द्र में रखकर यशपाल शिविर - बद्धता का विरोध ही नहीं करते वरन् स्त्री के पक्ष में लड़ी जाने वाली लड़ाई को एक अभियान रूप देने का रचनात्मक साहस भी दिखाते हैं। समूचे कथा - परिदृश्य में दिव्या का महत्व यह है कि वह स्त्री को उसके सामाजिक सन्दर्भों में प्रस्तुत करता है । वहां स्त्री न तो लेखक के नियतिवादी जीवन - दर्शन पर उन नैतिक आग्रहों के आगे, जो उसकी सारी प्रतिरोध क्षमता को बाधित करती है । 'दिव्या' सिर्फ स्त्री - पुरुष के निजी संबंधों में सिर्फ नैतिक छूट का प्रस्ताव लेकर ही नहीं आती वरन् वह अपनी उर्जस्वी तेजस्विता से उसके परिवर्तन के लिए निर्णायक संघर्ष भी करती है ।[1] धीर और अभिमान भरी नारी दिव्या सब प्रकार के घात - प्रतिघातों कुरूप विषमताओं का सामना करती हुई अपने गन्तव्य मार्ग पर अडिग चलती गई है । अपने कंटकित जीवन का पर्याप्त घटनापूर्ण और उथल - पुथल भरा मार्ग तय करके उसके सुदृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है । विपरीत परिस्थितियों के संघर्ष के परिणाम स्वरूप ही

दिव्या इस स्थिति में आ चुकी है कि अपनी सभी समस्याओं का यथोचित समाधान प्रस्तुत कर सके और अपने सभी प्रताड़कों — व्यक्ति, समाज और धर्म को दो टूक जवाब दे सके। 'दिव्या' उपन्यास तत्कालीन समाज व्यवस्था के अनेक अलक्षित और अनुद्घटित पक्षों को सामने लाता है । इसमें लेखक की नारी - मुक्ति और सर्वहारा मुक्ति की आकांक्षा साथ - साथ दिखाई पड़ती है । दिव्या में यशपाल बौद्धकालीन प्राचीन भारत के राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक वातावरण का विधान करके जीवन और जगत के अनेक जटिल प्रश्नों से उलझते हैं । राजतंत्र बनाम गणतंत्र, दास प्रथा बनाम वर्ण प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था बनाम धर्मचक्र व्यवस्था, कुलीन बंदिनी नारी बनाम स्वतंत्र वेश्या नारी आदि अनेक पेचीदे प्रश्न 'दिव्या' में आकार लेते हैं ।

दिव्या में ऐतिहासिक कल्पना एक बारगी यथार्थ दृष्टि तथा मौलिक दृष्टिकोण से देदीप्यमान हो उठी है । इसमें 'ऐतिहासिक - वर्तमान' अपने सामाजिक रूप में प्रस्तुत है, यहां ऐतिहासिक भौतिकवादी चिंतनधारा उन सबका खण्डन करने को उद्धत है जो मनुष्य को परिस्थितियों के हाथ कठपुतली बनाता है, और पाप - पुण्य के धार्मिक अभिप्रायों को लेकर सामाजिक नैतिकता और सांस्कृतिक आलोक को धुंधला करता है जो योग और भोग की समस्या को तृष्णा, भाग्य तथा नियति पर आधृत कर देता है । दिव्या में एक ओर जहां राहुल सांकृत्यायन की सांस्कृतिक जीवन - दृष्टि का कलात्मक परिमार्जन है, वहीं दूसरी ओर भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा के सम्पूर्ण जीवन - दर्शन की प्रत्यालोचना सी हुई है, ताकि भारतीय इतिहास तथा समाज भारतीय क्रान्ति तथा मानवीय संबंधों की सही समझ विकसित की जा सके। [3]

हावर्ड फास्ट की तरह ही यशपाल अपने वर्तमान को समझने और संवारने में ही अतीत का उपयोग करने वाले लेखक हैं । गहराई से देखें तो पता चलेगा कि 'दिव्या' मुख्यतः हमारे समसामयिक जीवन की समस्याओं से संबंधित उपन्यास है, फिर भी यशपाल ने इसे इतिहास की पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है। इस बात की चर्चा यशपाल स्वयम् करते हुए कहते हैं कि -'' दिव्या में सामयिक समस्याओं को ही लिया गया है, परंतु उन समस्याओं को आधुनिक परिवेश में ही अधिक सरलता से लिया जा सकता था, यह मेरे अनुभव के प्रतिकूल है, क्योंकि पाठकों और आलोचकों ने जहां मेरे ऐतिहासिक उपन्यासों को तटस्थता से लिया है वहीं समसामयिक जीवन के उपन्यासों में अपने लिए उपदेश और उपालंभ का अनुभव किया है । मुझे लगता है कि पाठक मेरी बात तटस्थता से सुन् समझ सकें, इस प्रयोजन से ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिक सरलता अनुभव हुई है ।[4]

इस अनुभव के बावजूद यशपाल ने सामाजिक और राजनीतिक उपन्यास लिखा है । ऐतीहासिक उपन्यास में जैसी गंभीर तैयारी और अतिरिक्त परिश्रम की अपेक्षा होती

है, 'दिव्या' उपन्यास उसकी बखूबी पूर्ती करता है । गंभीर रचनात्मक तैयारी और एकतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से दिव्या हिन्दी में एक विरल उदाहरण है । यशपाल जिस समतावादी और शोषण - विहीन समाज के निर्माण के लिए प्रतिश्रुत थे, अपने समाज के बीच रहकर ही उसके लिए संघर्ष किया जा सकता था । इतिहास उनके लिए टुकड़ों और खण्डों में विभाजित न होकर एक अजस्त्र काल प्रवाह है । 'दिव्या' को यशपाल इतिहास न मानकर "ऐतिहासिक कल्पना मात्र" कहकर प्रस्तुत करते हैं । और ऐसा कहकर वे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में अपनी कथा के लिए अनेक छूट भी ले लेते हैं । वर्तमान में अपने इतिहास के उपयोग की संभावनाओं पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं — "अपने अतीत का मनन और मंथन हम भविष्य के लिए संकेत पाने के प्रयोजन से करते हैं । वर्तमान में अपने आपको असमर्थ पाकर भी हम अपने अतीत में अपना परिचय पाते हैं । इतिहास घटनाओं के रूप में अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता । परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है, परंतु परिवर्तन की इस श्रृंखला में अपने अस्तितव की रक्षा ओर विकास के लिए व्यक्ति और समाज का प्रयत्न निरंतर विद्यमान रहा है । वही सब परिवर्तनों की मूल प्रेरक शक्ति है ।[5]

इस तरह यशपाल इतिहास की नियतिवादी अवधारणा के विरोध में इतिहास की विकासवादी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, जो विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक क्षमता का विश्लेषण करने पर बल देती है, क्योंकि मनुष्य केवल उत्पन्न परिस्थितियों को भोगता ही नहीं वरन् उन्हें सुलझाने के प्रयत्न से, आगे जाकर परिस्थितियों का निर्माण भी करता है । वह अपनी प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करके सामाजिक परिस्थितियों की सृष्टि करता है । इतिहास की इस विकासवादी अवधारणा द्वारा यशपाल वस्तुतः ' चित्रलेखा ' में भगवती चरण वर्मा द्वारा प्रस्तुत इतिहास की नियतिवाद की सीमाओं का संकेत करते हैं, जिसमें मनुष्य अपनी परिस्थितियों का भोक्ता मात्र होता है, और वह सिर्फ वही करता है, जिसे करने को वह विवश है। यशपाल इतिहास को विश्लेषण की वस्तु मानते हैं । उसके सार्थक उपयोग की अनेक संभावनाएं देखते हैं । यशपाल का मानना है कि "अतीत में अपने रचनात्मक सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना के लिए निर्देश पाती है " ।[6]

मनुष्य इतिहास का भोक्ता ही नहीं कर्ता और उसका निर्माता भी है । दिव्या की कथा किसी महान व्यक्ति को केन्द्र में रखकर नहीं बुनी गई है । अपने सामाजिक यथार्थ के प्रति लेखक की सम्पूर्ण दृष्टि ही वस्तुतः यहां उसकी इतिहास - दृष्टि के रूप में सक्रिय है, वर्णाश्रम व्यवस्था के आंतरिक अंतर्विरोध बौद्ध - धर्म का नियतिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक विकास में ऐतिहासिक भौतिकवादी सन्दर्भ, एक लेखक के रूप

में यशपाल की विश्व - दृष्टि का अनिवार्य घटक है, जो उनकी इतिहास दृष्टि के मूल वैशिष्ट्य को समझने में मदद करती है ।[7]

यशपाल दिव्या में इतिहास को आदर्शवादी या भाववादी दृष्टिकोण से नहीं बल्कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं । यही वजह है कि उनका इतिहास दर्शन इतिहास के संबंध में हमारी परम्परागत आदर्शवादी धारणा को न केवल एक झटके के साथ तोड़ देता है बल्कि हमें इतिहास के उस यथार्थ से भी अवगत कराता है जो अत्यंत भयावह, रोमांचकारी और बीभत्स है । ''समाज का अब तक का इतिहास वर्गों और वर्गों के संघर्ष का इतिहास है '' । **मार्क्स** की इस उक्ति को दिव्या पूरी तरह प्रमाणित करता है । साथ ही इसमें अभिजात वर्गों के भोगपूर्ण जीवन और जन सामान्य के अभिशप्त जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर यशपाल वर्ग विषमता को तो उद्‌घाटित करते ही हैं हीं दूसरी ओर निम्न वर्गो के हृदय में पनपने वाले विद्रोह - भाव का संकेत देकर, वर्गविषमता के साथ वर्गचेतना को भी प्रदर्शित करते हैं ।

वैसे तो दिव्या की केन्द्रिय समस्या नारी है, जिसके चारों और वर्णाश्रम, बौद्ध - धर्म और दास समस्या को उपन्यस्त किया गया है । यशपाल दिव्या के माध्यम से नारी आंदोलन के कई उन मुद्दों को उठाते हैं जो आज चर्चा का विषय हैं, जैसे - नारी की सामाजिक - समानता, आर्थिक - आत्मनिर्भरता, धार्मिक - स्वतंत्रता और देह की मुक्ति का प्रश्न । वर्तमान नारी आंदोलन से उत्पन्न स्त्री - चेतना की झलक 'दिव्या' उस वक्त दिखायी पड़ती है जब उत्तर - आधुनिकता की कहीं कोई चर्चा नहीं थी । 'दिव्या' में स्त्री मुक्ति की सिर्फ आकांक्षा ही नहीं है उसे पाने के लिए जीवनपर्यन्त संघर्ष भी है । यशपाल दिव्या में इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सिर्फ आर्थिक आत्मनिर्भरता ही स्त्री - स्वाधीनता की कुंजी नहीं है, यदि ऐसा होता तो, जब तक स्त्री के पास देह है, और संसार के पास पुरुष तब तक स्त्री को किस बात की चिंता है। जरूरत है देह को पुरुष के स्वामित्व से मुक्त कर अपने अधिकार लेने में स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता है, क्योंकि यौन - शुचिता, पतिव्रत, सतीत्व जैसे मूल्य स्त्री के सम्मान के नहीं, पुरुष के अहंकार की स्त्री की दीनता और असुरक्षा का पैमाना है, यही स्त्री की बेड़ियां हैं, जिसने ये बेड़ियां उतार दी वही स्त्री विशिष्ट है, उसने ले लेने की हिम्मत को साबित किया है, कीमत चुकाई है । और जहां तक स्त्री की देह की स्वतंत्रता का प्रश्न है, यह स्त्री-मुक्ति की सार्थक और सही राह नहीं है, दिव्या को स्त्री की स्वतंत्रता वेश्या जीवन में ही मालूम पड़ती है, लेकिन मारिश द्वारा यशपाल इसका विरोध करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि यदि कुलवधू एक पुरुष की भोग्या है तो वेश्या या जनपद कल्याणी पूरे जनपद की भोग्या है । उसकी स्वतंत्रता प्रवंचना और विडम्बना मात्र है ।

पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी युगों से पराधीन, पीड़ित, कुण्ठित और शोषित रही है । नारी रूप में वह सभी पुरुषों के लिए भोग्या मात्र है, उसका अपना कोई पृथक अस्तित्व नहीं है । दिव्या उपन्यास तत्कालीन नारी के शोषित और दयनीय रूप को उजागर करता है कि "नारी का कोई कुल नहीं होता - उसे भोगने वाले पुरुष के कुल से ही नारी का कुल होता है" वृक का यह कथन नारी की सामाजिक स्थितिपर टिप्पणी है, जहां पुरुष नारी के लिए नहीं, नारी पुरुष के अस्तित्व और उसकी सेवा के लिए थी — *पृथुसेन के पिता महाश्रेष्ठी प्रेस्थ के इस कथन में भी मध्यकालीन, सामंतवादी पुरुष के* स्त्री संबंधी दृष्टिकोण की झलक दिखाई पड़ती है — " स्त्री जीवन की पूर्ती नहीं, जीवन की पूर्ती का एक उपकरण और साधन मात्र है । सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियां प्राप्त कर सकता है ।

नारी चाहे शोषक वर्ग की हो, या शोषित वर्ग की, राजमहल की राजकुमारी हो या आम स्त्री, प्राचीन विचारों की हो या आधुनिक, पुरुष के शोषण का शिकार सभी समान रूप से हुई है । व्यवस्था के पंजे इतने मजबूत हैं कि वे हर स्तर पर नारी को अपनी जकड़ में लिए हुए है । *यहां तक कि आत्मनिर्भर होकर भी इस समाजव्यवस्था में उसे* वास्तविक मुक्ति नहीं मिली है । कभी वर्ग, कभी वर्ण, कभी असकी अपनी शारीरिक एवम् मानसिक संरचना कभी धर्म कभी अन्य प्रकार की रीतियों और रूढ़ियों का संबल लेकर समाज नारी का शोषण करता रहा है, और वह मुक्ति की अपनी सारी अंतर्निहित इच्छा के बावजूद शोषित होती आई है ।

"दिव्या" जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है कि 'दिव्या'के जीवन को लेकर नारी की समस्या, यातना, उलझने, बेबसी, अनाचार आदि से ग्रस्त सम्पूर्ण नारी जगत का त्रस्त रूप दिखाना ही शायद यशपाल का मन्तव्य है । "दिव्या" उपन्यास के अंतर्गत दिव्या केन्द्रिय चरित्र है । वह उपन्यास की नायिका है । नायिका वह इस अर्थ में है कि उपन्यास उसी के जीवनसंघर्ष की गाथा है । अपनी वैयक्तिक विशेषताओं एवम् प्रवृत्तियों के बावजूद, दिव्या लेखक द्वारा "नारी जाति" की प्रतिनिधि के रूप में भी प्रस्तुत की गयी है । वह नारी के परम्परागत शोषण की जीती - जागती मिसाल है । वह अपने जीवन के द्वारा इस तथ्य को प्रतिपादित करती है कि जब तक समाजव्यवस्था बदल नहीं जाती, नारी ~~जाति~~ शोषण से मुक्त नहीं हो सकती । ब्राह्मण वर्ग की प्रभुता को सर्वोच्च मानने वाली तत्कालीन समाजव्यवस्था में धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री होने के नाते बचपन से ही दिव्या को अभिजात वर्ग की समस्त सुविधाएं प्राप्त होती हैं । माता - पिता से वंचित होने के कारण उसे धर्मस्थ से ही नहीं अपने सारे सगे - संबंधियों से विशेष लाड़ - प्यार मिलता है । बड़े ही ममतामय और भव्य परिवेश में उसका लालन - पालन होता है ।

उपन्यास के प्रारम्भ में सबसे पहले उसका परिचय संगीत और नृत्य में प्रवीण एक अपूर्व सुंदरी के रूप में होता है । सर्वश्रेष्ठ नृत्य प्रदर्शन के लिए उसे 'मधुपर्व' के अवसर पर ''सरस्वती पुत्री'' की उपाधि मिलती है । अभिजात वर्गीय समाज उसकी कृपा के लिए लालायित हो उठता है । दिव्या, संगीत नृत्य में ही निपुण नहीं है, वह शास्त्र संबंधी ज्ञान से भी परिपूर्ण है । धर्मस्थ का प्रसाद चूंकि ज्ञान संबंधी चर्चाओं का केन्द्र था, अतः दिव्या के संस्कारों में उसकी घनीभूत छाया स्वाभाविक ही कही जाएगी । उपन्यास के दो - तीन अध्यायों में दिव्या के प्रारंभिक जीवन का बड़ा ही आकर्षक चित्र अंकित है । अपने जीवन के प्रारंभिक रूप में दिव्या एक राजकुमारी है, औसत भारतीय नारी नहीं ।

मधुपर्व के अवसर पर ही वह दासयुग पृथुसेन की वीरता और शौर्य के कारण उसके प्रति आकर्षित होती है, पर उसका प्रेम मन तक ही सीमित नहीं रहता, शरीर के धरातल पर भी अभिव्यक्ति पाता है । दिव्या के इस साहसिक बंधन - मुक्त कदम से वर्णाश्रम धर्म की मान्यताओं पर टिकी समाजव्यवस्था हिल उठती है । युवावस्था की अल्हड़ मनःस्थिति में लिए फैसले से दिव्या के जीवन का रोमांचकारी अध्याय प्रारंभ होता है । आने वाली आंधी के भयानक झंझावात का अनुमान कर दिव्या पृथुसेन के गर्भ को संभाले घर से बाहर निकल पड़ती है । उसके समक्ष स्पष्ट हो जाता है कि अभिजात वर्ग में होने वाला उसका जन्म भी उसे उन चाहरदिवारी से बाहर नहीं निकाल सकता जो समाज ने नारी के चारों ओर आचार - विचार धर्म, मर्यादा, नियम - कानून आदि के नाम से खड़ी कर दी है । दिव्या अब महलों में रहने वाली धर्मस्थ की प्रपौत्री न रहकर एक औसत भारतीय नारी रूप में सामने आती है । वह दिव्या से दासी ''दारा'' बनने को विवश होती है । ''दारा'' के रूप में दिव्या पशुओं की भांति एक व्यापारी से दूसरे, दूसरे से तीसरे हाथों क्रय - विक्रय का साधन बनती है । दासी रूप में ही दिव्या पृथुसेन के अंश को जन्म देती है, परंतु बच्चे पर मातृत्व अर्पित करने से वंचित कर दी जाती है । क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था में दासी होने के नाते उसका पहला और अंतिम दायित्व स्वामी की सेवा था ।

दास जीवन के अभिशाप से मुक्त होने के लिए, अपने पुत्र की रक्षा के लिए दिव्या शाकुल को वक्ष से सटाये घनी दोपहर में शीतलता की आस लिए बौद्ध - विहार की शरण में पहुंची लेकिन सब प्रकार के अभिशप्त और कलंकित लोगों को अपनी शरण में लेने वाले बौद्ध धर्म में दिव्या के लिए जगह नहीं थी क्योंकि वह नारी थी वह भी दासी । भला पुरुष या स्वामी की आज्ञा के बिना उसे कहीं शरण दी जा सकती थी ? संघ की शरण से उपेक्षित 'दिव्या' के समक्ष अब आत्महत्या के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं था परंतु दिव्या के मन में जीने की, संघर्ष करने की असीम शक्ति थी। वह अपने लिए, अपने

पुत्र के लिए जीना चाहती थी, वेश्या बनकर भी, क्योंकि वेश्या स्वतंत्र नारी है। दिव्या भी स्वतंत्र होना चाहती है। परतंत्रता की अपेक्षा वह मृत्यु को श्रेष्ठ समझती है तभी वह इसके लिए प्रयास भी करती है, परंतु नर्तकी रत्नप्रभा द्वारा बचा ली जाती है। नर्तकी रत्नप्रभा उसे एक नया संसार और नया जीवन देती है, जो तमाम बंधनों से मुक्त है। रत्नप्रभा के साहचर्य में दिव्या का जन्म "अंशुमाला" वेश्या रूप में होता है।

दिव्या का चरित्र व्यवस्था के समूचे घिनौनेपन को उद्घाटित करता है, बड़े ही प्रभावशाली और तर्कपूर्ण ढंग से लेखक व्यवस्था के वास्तविक रूप को सामने लाते हुए, इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं कि नारी की मुक्ति आत्मनिर्भरता में नहीं है वरन् व्यवस्था को बदलने में है । दिव्या वेश्या बनकर भी स्वतंत्र नहीं हो पाती है । लेखक ने यहां इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि अपने स्वार्थ के लिए व्यवस्था के ठेकेदार किस प्रकार अपने घोषित सिद्धांतों एवम् मान्यताओं को एक ओर रख देते हैं । वेश्या जीवन अपनाने से पूर्व दिव्या दर - दर की ठोकर खाती है पर किसी पुरुष ने किसी समाज ने और न ही किसी धर्म ने उसे संरक्षण दिया । लेकिन वही 'दिव्या' को वेश्या जीवन अपनाते देख प्रतिष्ठा के दंभ से संपूर्ण ब्राह्मण समाज इस वजह उसे अपनाने को प्रस्तुत हो जाता है कि ब्राह्मण पुत्री के वेश्या बन जाने पर ब्राह्मण समाज की धवल कीर्ति पर कालिख पुत जाएगी । दिव्या के विधिवत वेश्या बनने के निर्णय से समाज और धर्म सब की जड़ें हिलने लगती हैं, उसे अपनाने वालों की भीड़ लग जाती है । कोई उसे कुल - वधु बनाने को प्रस्तुत है, तो कोई उसे मोक्ष दिलाने का आग्रही । मनुष्य रूप में उसे उसकी खूबियों और कमियों के साथ अपनाने को सिर्फ एक पुरुष तैयार है, जो उसे सुख और दुःख दोनों का साथी बनाना चाहता है, अपने पुरुषत्व को अर्पित कर स्त्रीत्व की आकांक्षा करता है, उसे संतति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता देने का वचन देता है, और दिव्या इस रूप में अपने अस्तित्व की सार्थकता को स्वीकार करती है । क्योंकि नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृजन है ।

अपने छोटे से जीवन में आए अनेक उतार - चढ़ाव ने दिव्या के नेत्र को खोल दिया था । दरअसल वर्णाश्रम व्यवस्था जिसे नारी के संदर्भ में कुलवधू का सम्मान कहती है, वह वस्तुतः पुरुष के वर्चस्व की ही स्वीकृति है । उस व्यवस्था में नारी पूर्णतया अधिकार और स्वत्वहीन प्राणी है, नारी को मिला यह कथित सम्मान मूलतः उसका उपभोग करने वाले पुरुष का ही सम्मान है । वह तो उस पुरुष की वंश परम्परा से आगे बढ़ाने वाली मशीन मात्र है । इसीलिए दिव्या कुल - वधु के आसन को ठुकराते हुए कहती है — आचार्य कुल- वधु का आसन, कुल - माता का आसन, कुल - महादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है । यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है , परंतु आचार्य कुल - माता और कुल - महादेवी निरादृत वेश्या के

भांति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं है । यानी आचार्य कुल - वधु का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुल - महादेवी का अधिकार आर्यपुरुष का प्रश्रय मात्र है । वह नारी का सम्मान नहीं, उसे भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान हे । आर्य, अपने स्वत्व को त्याग कर के ही नारी, वह सम्मान प्राप्त कर सकती है " ।

प्रणय के सहभागी दिव्या और पृथुसेन दोनों थे, परंतु प्रेम के प्रतिदान में प्राप्त होने वाली संतान ने दिव्या के जीवन के तमाम सुखों पर ग्रहण लगा दिया । वस्तुतः यह एक 'दिव्या' की समस्या नहीं है, वरन् सैंकड़ों "दिव्याओं" की समस्या है, जो व्यभिचार और छल की शिकार होकर अपना सारा जीवन नष्ट कर लेती हैं । समाज ने केवल उसी मातृत्व का महिता मण्डित और गौरवान्वित किया है, जो पुरुष के संरक्षण में उससे विवाहोपरान्त प्राप्त होता हे । बिना विवाह प्रेम की परिणति ' संतान और मातृत्व' दोनों को समाज ने कलंकित किया है, मानो महिमा मां बनने में नहीं वरन् पुरुष को विधिवत पिता बनाने में है । नारी का जो आकर्षण है, वह उसकी सृजनात्मक शक्ति का स्त्रोत है और वही पतन का कारण भी बन जाता है । जीवन के तमाम ऊबड़ - खाबड़ रास्तों से, उलझनों और मानसिक झंझावातों से सिर्फ दिव्या को ही जूझना पड़ा, पृथुसेन को नहीं, क्योंकि वह 'नारी' थी और पृथुसेन 'पुरुष' । समाज के सारे बंधनों, रीतिरिवाजों और मानमर्यादाओं के निर्माण और निर्वाह का कार्य स्त्रियों के जिम्मे होता है । पुरुष सदा इनसे पृथक और निरंकुश रहता है । अवैध संबंध और चारित्रिक पतन जैसे शब्दों का सरोकार सिर्फ स्त्रियों से होता है । दिव्या उपन्यास के पूरे घटनाक्रम में दिव्या से अवैध संबंध की वजह से पृथुसेन को एक क्षण के लिए भी कभी कोई तकलीफ नहीं होती है, न शारीरिक न मानसिक, जबकि इसी संबंध ने दिव्या के जीवन को बदल कर रख दिया । किन शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को दिव्या ने नहीं भोगा, राजकुमारी से वह दासी और वेश्या तक बनने को मजबूर हुई ।

जैसा कि मैंने पहले ही उल्लेख किया है कि यह कहानी सिर्फ राजकुमारी दिव्या की नहीं है, अनेक दिव्याओं की कहानी है, जो पृथुसेन से छली जाती है और इस अन्याय के लिए समाज कभी किसी पृथुसेन को दण्डित नहीं कर पाता है और न ही कभी किसी दिव्या को न्याय मिलता है । न्यायविहीन दिव्या अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दर - दर की ठोकरें खाती रहती है । हर जगह से वह ठुकरायी जाती है । चाहे वह पुरुष हो, समाज हो या धर्म । अभी हाल ही में निर्देशक रामगोपल वर्मा के निर्देशन में बनी फिल्म "क्या कहना" की नायिका भी एक दिव्या के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होती है । "अवैध गर्भ" परिवार की प्रतिष्ठा पर प्रश्न चिन्ह अंकित करे उससे पहले ही नायिका परिवार से निष्कासित कर दी जाती है । परंतु मां तो आखिर मां ही होती है चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित । उसकी ममता में किसी स्तर पर कभी फर्क नहीं

होता हे । फिल्म की नायिका के मन में विचार आता है कि यदि वह विवाहित होती तो यही गर्भ उल्लास का विषय होता जबकि आज यह अभिशाप बन गया । 'दिव्या' भी राजमहल में अपनों से घिरी यही विचार करती हुई कहती है कि "आर्ये मोक्ष का गर्भ परिवार के लिए उल्लास का कारण हे, और मेरा गर्भ कलंक का, क्योंकि मेरे गर्भ का पिता नहीं । वह स्वयम् इसी अपराध के कारण निराश्रय होकर गर्भ रक्षा के लिए भाग रही है । *उसने एक दीर्घ निःश्वास लिया – हाय वंचक पृथुसेन सुख और आनंद का* कारण गर्भक, कलंक और अमार्जनीय अपराध बन गया ।[9]

फिल्म की नायिका भी दिव्या की तरह ही सामाजिक पारिवारिक सहमति के बिना बच्चे को जन्म देने का निश्चय करती है, परंतु आगे के घटनाक्रम में दिव्या के यथार्थ *कथाप्रवाह की जगह फिल्म में कल्पना हावी हो जाती है । नायिका के अवैध गर्भ को* जन्म देने की जिद को पारिवारिक और अन्ततः सामाजिक सहमति मिल जाती है । निश्चय ही यह रामगोपाल वर्मा का यूटोपिया है । लेकिन चह भी सच है कि एक ऐसे *ही समाज की आवश्यकता है जहां अवैध गर्भ कलंक या अभिशाप न समझा जाय और* समझा भी जाय तो उसका जिम्मेदार स्त्री और पुरुष दोनों हों सिर्फ स्त्री को ही जिम्मेदार ठहराकर उसे निराधार छोड़ न दिया जाय । इससे तो बात बनने की जगह बिगड़ ही जाती है जैसा कि दिव्या के साथ हुआ । दिव्या की एक भूल ने उसे जीवन की अनेक *गंदी गलियों से गुजरने को बाध्य कर दिया । यशपाल स्वयम् अच्छे और बुरे कार्यों के* लिए समाज की व्यवस्था को दोषी मानते हैं जब दिव्या अपने आपको कलंकित समझे जाने के कारण घर छोड़कर चली जाती है तो धर्मस्थ कहते हैं – तुम्हें बेटी के चले जाने पर आक्रोश है, वह किसके अपराध से गयी ? मेरे, तुम्हारे या समाज के अनुशासन से ।[10]

दिव्या के माध्यम से यशपाल वर्तमान नारी आंदोलन के पश्चिम प्रभावित इस मुद्दे को भी उठाते दिखायी पड़ते हैं कि क्या समाज को नारी, पुरुष रहित अथवा पुरुष, नारी - रहित स्थिति की कल्पना की जा सकती है ? उपन्यास में दिव्या और रत्नप्रभा के द्वारा यह प्रश्न उठता है । दिव्या अपने जीवन में भोगी अनुभूतियों से यह सीख लेती है कि *नारी की सारी पीड़ाओं और दुःखों के मूल में उसकी पुरुषाधीनता है ।* इसलिए उसे पुरुष के आश्रय से चिढ़ और घृणा होती हे जैसे बहेलिया के जाल को देख भुक्तभोगी पक्षी भयभीत हो जाता है वैसे ही दिव्या पुरुष के किसी भी आश्रय के नाम से भयभीत होकर दूर भागती थी । उसका मानना था कि पुरुष की नजर में नारी केवल भोग्या है, सब *उसे भोगेगें इसलिए वह आश्रय के जाल में नहीं फंसेगी । वह वेश्या बनकर स्वतंत्र* रहेगी ।

समाज में चारों ओर से प्रताड़ित दिव्या को वेश्या जीवन में ही आत्मनिर्भरता

मालूम होती है, जहां गंगा के प्रवाह की तरह जीवन निर्बाध घटता जाता है । परंतु रत्नप्रभा का जीवन वेश्या की स्वतंत्रता को नकारता सा प्रतीत होता है । जीवन के उत्तरार्द्ध में उसे इस भीषण सच से साक्षात्कार होता है कि वेश्या स्वतंत्र नहीं है और न ही *वेश्या बन जाने मात्र से ही नारी के सारे दुःखों का अंत हो जाता है - यदि कुल - वधु* एक पुरुष की भोग्य है तो जनपद कल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है । वह "काम" के यज्ञ का साधन मात्र है । वह स्वयम् की पूर्ति के हविष्य से वंचित है । उसकी स्वतंत्रता का भोग जन करता है वह स्वयम् नहीं । वह *केवल प्रवंचना पाती है* " ।

रत्नप्रभा के पास सुख भोगने के सब साधन उपलब्ध होते हैं — वस्त्र, आभूषण, भवन, दास, दासियां लेकिन उसके जीवन में संतोष नही था । ये सब जीवन का लक्ष्य नहीं केवल उपकरण मात्र थे । उसके संपूर्ण जीवन में यदि किसी की कमी थी तो वह *एक मात्र पुरुष की । रत्नप्रभा अपनी ढलती उम्र में अपनी तुलना कुलवधू के जीवन से* करती हुई गहरी तृष्णा का अनुभव करती है — कुल - वधू का जीवन मध्यम प्रकाश से चिरकाल तक टिमटिमाते दीपक की भांति है । ममताभरी शरण के साथ प्रतिकूल परिस्थितियों के झंझावात में उसकी रक्षा करते हैं वह अपने निर्वाण से पूर्व अपने अस्तित्व से दूसरे *दीप को जलाकर अपना प्रकाश उनमें देख पाती है । स्वयम् उसके निर्वाण* हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है ।[12] ऐसी परम्परा ही मनुष्य की अमरता है । इस तरह हम देखते हैं कि दिव्या जहां अपने अस्तित्व की सार्थकता और स्वतंत्रता पुरुष रहित जीवन में करती है वहीं दूसरी ओर रत्नप्रभा अपने जीवन में पुरुष की आकांक्षा *करती है* ।

दरअसल यशपाल समाज की अमरता के लिए स्त्री - पुरुष के पारस्परिक संबंधों को अनवार्य बताते हुए सृष्टि में नारी - जीवन की मौलिक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं । दार्शनिक मारिश के निम्न कथन में उनका यह विचार प्रतिबिम्बित है कि — नारी सृष्टि का *साधन है । सृष्टि की आदि - शक्ति का क्षेत्र, वह समाज और कुल का केन्द्र है ।* पुरुष उसके चारों ओर घूमता है जैसे कोल्हू का बैल । दिव्या यहां उलटकर मारिश से अप्रश्न करती है कि — "स्वयम् दूसरे के लिए भोग्या बनकर कोई स्वयम् क्या सार्थकता पायेगा आर्य ? पुरुष द्वारा उसका भोग और उपयोग । जैसे पान की इच्छा होने पर *पान - पात्र की सार्थकता है । आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतंत्र* है" ।[13]

यशपाल यहां प्रश्रय के प्रश्न का समाधान समानता के आधार पर दार्शनिक मारिश द्वारा प्रस्तुत करते हैं । नारी, प्रकृति के विधान से नहीं समाज के विधान से भोग्या है । *प्रकृति और समाज में भी स्त्री और पुरुष का संबंध अन्योन्याश्रय है* । पुरुष का

प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है, परंतु नारी के जीवन की सार्थकता के लिए पुरुष का आश्रय आवश्यक है, और नारी - पुरुष का आश्रय भी ।[14]

यशपाल समाज की अमरता और मनुष्य की अमरता के लिए स्त्री - पुरुष के पारस्परिक संबंधों को अनिवार्य बताते हुए नारी आंदोलन की "सिंगल फैमिली" जिसमें सिर्फ स्त्री होती है या पुरुष, को नकारते हैं । यह निर्विवाद सत्य है कि बिना पुरुष के नारी और बिना नारी के पुरुष का जीवन एकांगी और निरर्थक है । अतः नारी की मौलिक सार्थकता को स्पष्ट करते हुए यशपाल मानते हैं कि — "नारी सृष्टि का साधन है । सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र, वह समाज और कुल का केन्द्र है" । वास्तव में स्त्री और पुरुष दोनों समान हैं और दोनों के सहयोग से ही प्रगति संभव है । दरअसल स्त्री - पुरुष में भेद तब होता है जब दोनों की सर्जन शक्ति का प्रश्न उठता है । सर्जन - क्रिया में पुरुष 'पुरुष' है और स्त्री 'स्त्री' है । दोनों विशिष्ट हैं । अलग है एक दूसरे से भिन्न फिर भी एक दूसरे के पूरक एक दूसरे के ऊपर निर्भर, दोनों की सक्रियता अन्योन्याश्रित है, दीपक और दियासलाई की भांति अतः नर श्रेष्ठ है या नारी, यह प्रश्न एक समाज या देश का नहीं है, युगों से चला आ रहा है और जिसका समाधान आज भी अप्राप्य है ।

नर दोपहर की धूप, ताप का सरगम
नारी करूणा की कोर, भोर की शबनम
संध्या में दोनों एक, रागमय अंबर
नक्षत्रों में मुस्कान, चांद में विभ्रम ।[15]

जीवन चिरंतन, वास्तविक और सत्य है, वह अनुराग के लिए है, तो विरक्ति और त्याग के लिए भी है । यशपाल दिव्या के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि नारी न तो त्याज्य है न भोग्या । वह विषम परिस्थितियों में भी सृष्टि का धर्म निभाती है, और स्वत्वपूर्ण तथा आत्मनिर्भर होकर ही नारीत्व की सार्थकता प्राप्त कर सकती है । चूंकि वह समानता और सहानुभूति में ही सहज और पूर्ण होती है, अतः ऐसी ही नारी पुरुष को भी पूर्ण करती है ।

यशपाल समाज की अमरता के लिए स्त्री - पुरुष के संबंध को आवश्यक मानते हुए अपना दार्शनिक मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं — जैसे तेल और बत्ती के जलने की क्रिया का फल प्रकाश है । निर्वाण के पश्चात दीपक का प्रकाश कहां जाता है ? दीपक का सूर्य से प्रथक होने पर प्रकाश का अस्तित्व कहां रह जाता है ? देवी, इस प्रकार देवात्मा को जानो । जीव से पृथक आत्मा कहां है, उसका अस्तित्व कैसे संभव है ?

यशपाल मानते हैं कि - " नारी, समाज के कुंठित और संकीर्ण संबंधों को भस्मीभूत करती है तथा सामाजिक क्रांति में सहकर्मी होती है " । यही वजह है कि

उलटते - पुलटते कालचक्र की गति दासी 'दारा' और नर्तकी 'अंशुमाला' को पुनः ''कन्या दिव्या'' बना देती है । एक नये परिवेश और नयी व्यवस्था में जाहिर है नारी की सार्थकता और विमुक्ति कुल - धर्म और पाप - पुण्य में नहीं है, आत्मनिर्भरता और सामाजिक सहकर्म में है । दासी, कन्या, वधू, नर्तकी आदि के कर्म भी वैसे ही हैं जैसे पत्नी, माता और बहन के हैं । यौन संबंध तथा सामाजिक संबंध शाश्वत नहीं हैं । ये सब सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक क्रांति के साथ परिवर्तित हो जाते हैं ।

दिव्या इतिहास की नई सम्भावनाओं का संकेत देने वाला उपन्यास है । यशपाल के लिए अतीत अपने में कोई स्वतंत्र और स्वायत्त कालखण्ड न होकर उनके वर्तमान का ही अविभाज्य और अनिवार्य अंग है जिसमें भविष्य के संकेत छिपे हैं । दिव्या में अपने वर्तमान की अनुगूंज बहुत स्पष्ट है । उसके कारण ही उसकी सार्थकता है । लेकिन यह अनुगूंज पूरे वाद्य - वृंद के बीच और साथ रहकर ही अपने होने को प्रमाणित करती है, उससे अलग और बाहर नहीं । दिव्या का महत्व हिन्दी कथा - साहित्य में इतिहास - चिंतन के क्षितिज को एक असाधारण विस्तार देने की दृष्टि से भी है ।

जैसे रामचरित मानस के प्रारंभ में ही तुलसीदास ने ''नाना - पुराण निगमागम सम्मंत यद् रामायण निगदितंक्वचिदन्यततापि'' लिखकर अपने महाकाव्य के अध्ययन की कुंजी प्रस्तुत कर दी थी । उसी प्रकार यशपाल ने इस उपन्यास की मूल वृत्ति का सूचनात्मक कथन अपने प्राक्कथन में ही प्रस्तुत कर दिया है । कुछ ही पक्तियों में कृतिकार ने इस इतिहास मिश्रित उपन्यास का सामूहिक अभिप्राय बड़ी कुशलता से कह दिया है — दिव्या, इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना - मात्र है । ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है ।[18] लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयास ही नहीं किया वरन् सफल भी हुए हैं ।

इतिहास के झीने आवरण को ओढ़े दिव्या वस्तुतः एक आधुनिक भारतीय नारी है । जो नारी, धर्म और समाज से संबंधित अनेक अग्निप्रश्न लेकर सामने आती है -क्या पृथुसेन से अनुराग पाप था ? संपूर्ण सृष्टि गर्भधारण करती है, ऐसे में गर्भधारण पाप क्यों था ? दिव्या का जीवन दुःखों से भर गया । क्या यह कर्म फल का परिणाम था ? क्या कर्म फल देने वाला द्विज समाज ही है ? विकल्प और भी है, बौद्ध संघ लेकिन वहां नारी स्वामी, पति, पिता और पुत्र की आज्ञा के अधीन है । पुरुष की अनुमति बगैर नारी बौद्ध - धर्म में प्रवेश नहीं कर सकती है । लेकिन क्या नारी सिर्फ वेश्या रूप में ही स्वतंत्र है ? क्या दिव्या नर्तकी रूप में भी नारी - पराधीनता का संत्रास नहीं भोगती है ?

जो समाज गणिकाओं को सम्मान की दृष्टि से देखता है, उन्हें राजसत्ता का चिन्ह - छत्र और चंवर धारण करने का अधिकार देता है, जो अधिकार सिर्फ मद्र के कुल

गणराज्य में गणपति को था । परंतु वेश्याओं और नर्तकियों को इतना सम्मान देने पर भी किसी द्विजकन्या के इस आसन पर बैठने पर उठा विरोध, इस समाज का अंतर्विरोध नहीं तो और क्या है ? जो समाज कला की अधिष्ठात्री जनपद कल्याणी और नगर - श्री राजनर्तकी को सम्मान देता है, उसकी कला को देवी सरस्वती का दान समझता है, वही वर्ग अपने वर्ण की लड़की को वैसा बनने की छूट नहीं देता है । यह घटना अपने आप में पुरुष के वर्चस्ववादी और भोगवादी समाज में, कुल-वधु, ललनाओं और अभिजात स्त्रियों के अधिकार पर प्रश्नचिन्ह अंकित करता है ।

दरअसल इसमें उच्च कुल का स्वार्थ ही नीहित था जिस स्वार्थ की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि द्विज वर्ग अपने को ऊंचा उठाकर दूसरे निम्नवर्ग को अपनी अधीनता स्वीकार कराता रहे । यदि सामाजिक रहन - सहन, आचार - विचारों में निम्नवर्ग में भी समानता आ जाए तो द्विज वर्ग का विशेष अधिकार कहां रह जाता है । वस्तुतः द्विज वर्ग की सत्ता या गर्व निम्न वर्ग की हीनता और उनसे सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है । विष्णुशर्मा स्वयम् इसका संकेत करते हुए कहते हैं - '' यदि शूद्र दास भी द्विज के समान अधिकार पा सकता है तो द्विजत्व क्या है ? क्या ब्राह्मण के मंत्र और क्षत्रिय के शस्त्र की शक्ति शूद्र की सेवा के लिए है '' ।[19]

यशपाल गणपति पुत्री 'सीरो' और 'दिव्या ' के माध्यम से यह संकेत करते हैं कि यौन संबंध सामाजिक अर्थव्यवस्था और शारीरिक आवश्यकता की पारस्परिक क्रियाओं के साथ - साथ समूची विचार धारा से भी जुड़ा है । जहां एक ओर द्विजकन्या 'दिव्या' पृथुसेन का अवैध गर्भ धारण किए उसके महल की बीसियों दासियों में एक बनने को तैयार है, वहीं 'सीरो' आर्यो की बहुपत्नी प्रथा और उनकी कुल - ललनाओं की संकुचित धारणा पर व्यंग्य और घृणा प्रकट करती है -

- ''आर्यो में स्त्री केवल भोग्य सम्पत्ति और दासी है । वह तो अपने प्रियतम को किसी के साथ बंटा नहीं देख सकती । वह तो अपने प्रियतम के हृदय की एकछत्र रानी और अन्तःपुर की एकमात्र स्वामिनी बनेगी'' ।[20]

आर्यो की कुत्सित बहुपत्नी प्रथा की सीरो की भर्त्सना एक ओर अपने आप में जहां स्त्री अधिकार की चेतना और समाज में स्त्री की सामाजिक स्थिति पर टिप्पणी है, वहीं दूसरी ओर दिव्या और सीरो के माध्यम से यशपाल दो समाजों की नारियों को आमने - सामने रखकर भारतीय समाजव्यवस्था के अन्तर्विरोध को भी दर्शाते हैं । सीरो एक दूसरे ही सांस्कृतिक पैटर्न के ताने - बाने से बुनी स्त्री है, जो समाज और पुरुष की दोहरी नीतियों पर सीधे - सीधे वार करने का हौसला रखती है, वह उन सारी परिस्थितियों का विरोध करती दिखाई पड़ती है जो उसकी वयैक्तिक स्वतंत्रता को बाधित करती है । तभी वह अपने पति पृथुसेन को ललकारते हुए कहती है — मैं तुम्हारी क्रीत दासी नहीं हूं

। तुम मेरे आश्रित हो, मैं तुम्हारे आश्रित नहीं हूं, तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते मेरे लिए भी संसार में केवल तुम ही एक पुरुष नहीं हो, मैं द्विज कुल की पत्नी "दासी" नहीं हूं । मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है, मैं तुम्हारे वंश रथ की धुरी खींचने के लिए बछड़े उत्पन्न करने वाली गाय नहीं हूं ।[21] सीरो के उन विचारों में आधुनिकता का बोध है जिसमें वर्तमान नारी-स्वर की भी अनुगूंज है । सीरो का चरित्र दिव्या से भिन्न बिल्कुल विपरीत भूमि पर प्रस्तुत होता दिखाई पड़ता है । यशपाल नारी स्वातंत्र्य और समानाधिकार के पक्षपाती है लेकिन जिस रूप में सीरो का चरित्र स्वतंत्र उच्छृंखल और *वासनामय नारी-रूप को प्रस्तुत करता है वह पूँजीवादी व्यवस्था की भोगप्रधान प्रवृत्ति का* प्रतिनिधित्व करती है ।

दिव्या उपन्यास का आकर्षक पक्ष यही है कि वह अतीत के साथ - साथ वर्तमान से भी जुड़ा है । तत्कालीन युग का जो चित्र इसमें उपस्थित है वह आज भी प्रासंगिक है । *यह निर्विवाद सत्य है कि व्यवस्थाओं का रूप और बाहरी ढांचा भले ही बदलता* रहा हो, लेकिन उनकी शोषण धर्मिता कभी नहीं बदली है । नारी तब भी दलित थी, आज भी है । अंतर बस इतना है कि तब शोषण का तरीका प्रत्यक्ष और पारंपरिक था । अब अप्रत्यक्ष और अत्याधुनिक है । यशपाल स्वयम् इससे सहमति प्रकट करते हुए *कहते हैं – "अपने अतीत के सामाजिक अनुभवों के विश्लेषण के आधार पर हम जीवन* के अंतर्विरोधों को दूर करने का यत्न करें । हमारे अतीत में हमने अपने विश्वासों और संस्कारों को किस प्रकार बदला है, श्रेणी - संघर्ष किस प्रकार अदमनीय रूप से समाज की व्यवस्था में परिवर्तन करता आया है । किस प्रकार तर्क विश्वास पर विजय प्राप्त करता रहा है, नारी दमन में रहकर किस प्रकार अपनी भावनाओं को बनाए रहीं ।

दास प्रथा आज प्राचीन युग के रूप में नहीं है, परंतु दास प्रथा का मूल प्रयोजन एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी का शोषण तो आज भी है । एक समय दास की शारीरिक *शक्ति का शोषण स्पष्ट था । आज आर्थिक व्यवस्था के पर्दे में प्रच्छन्न है । प्राचीन* काल के शोषण को यदि हम नैतिक नहीं मान सकते, तो आज के शोषण को कैसे मान लें।[22] स्पष्ट है कि यशपाल शोषणमूलक समाजव्यवस्था के स्थान पर स्वस्थ मानवीय संबंधों पर आधारित एक ऐसी समाजव्यवस्था के आकांक्षी हैं, जिसमें वर्ग, वर्ण, धर्म, *संप्रदाय आदि के आधार पर मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की कोई गुंजाइश न हो ।*

दिव्या उपन्यास यशपाल के अन्य उपन्यासों की तुलना में इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि इसके अन्तर्गत लेखक अपने दूसरे उपन्यासों की भांति पूँजीवादी समाजव्यवस्था की विकृतियों की जगह इतिहास के 'दासयुग' को प्रत्यक्ष करते हैं । दिव्या में वे प्राचीन युग *के वर्ग संघर्ष और वर्गविषमता को सामने रखते हैं । वर्गविषमता और उसके फलस्वरूप* चलनेवाला वर्गसंघर्ष ही दिव्या का प्राणतल है, उसकी सारी समस्यागर्भिता इसी

वर्गविषमता और वर्गसंघर्ष की देन है । मद्र यों तो एक गणराज्य था किंतु शासनकर्ता सामंतो से युक्त अभिजात वर्ग के ही लोग थे । वर्णाश्रम धर्म की महत्ता को संरक्षण देते हुए समूचा सामाजिक जीवन गतिशील था । सारा समाज कुलीन और अकुलीन दो वर्गों में विभक्त था । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलीन वर्गों से संबंधित थे तथा शूद्र और दास अकुलीन । वर्णव्यवस्था की आड़ में कुलीनों द्वारा अकुलीनों का शोषण चल रहा था । अकुलीन सामाजिक अधिकारों से वंचित गुणी, वीर, एवम् योग्य होने के बावजूद उपेक्षित थे । अभिजात वर्ग अपने अधिकार मद में न केवल स्वार्थी हो चुका था बल्कि समाज की पतनोन्मुख स्थिति के प्रति भी वह उपेक्षा भाव रखता था ।

जनसामान्य की दरिद्रता तथा अभिशप्त जिन्दगी के प्रति उनके मन में कोई सहानुभूति नहीं थी । निरंतर उपेक्षा का शिकार बने निम्नवर्गों के लोग आत्मकेन्द्रित हो गए थे । ब्राह्मण धर्म पर राजपुरुषों की अनियंत्रित अधिकार भावना पर व्यंग्य करता हुआ एक नागरिक कहता है – "कुत्ता कुत्ते को काटता है और मालिक के अन्न की रक्षा करता है । मित्र तुम्हारी कटि पर भी राजपुरुष की मुद्रा का पट्टा बंध जाय तो जानते हो क्या होगा ? तुम भी ड्योढ़ी पर बंधे कूकर की भांति पथ पर चलने वाले कूकर पर गुर्राओगे । देखो स्वयम् खाने से उतना पुण्य नहीं होता जितना ब्राह्मण को खिलाने से होता है । जानते हो क्यों ? क्योंकि ब्राह्मण देवता का कूकर है" ।[23]

वैसे तो तत्कालीन समाजव्यवस्था का भवन कुलीनों द्वारा अकुलीनों के शोषण की नींव पर टिका था, किंतु शोषित वर्गो में भी सबसे निरीह स्थिति 'दासवर्ग' और 'नारी' की थी । संपूर्ण उपन्यास दासवर्ग और नारी के अभिशप्त जीवन की करुण गाथा है । दासों का पशुओं की तरह व्यापार किया जाता है । घटनाक्रम में फंसकर दिव्या स्वयम् दासी रूप में बेच दी जाती है । दिव्या के विक्रय के समय बेचने वाले और खरीदने वाले के बीच जो वार्तालाप होता है उससे दासों के निरीह जीवन का स्वतः अनुमान लगाया जा सकता है –

"क्या कहते हो मित्र ? अत्यंत विस्मय से नेत्र फैलाकर प्रतूल ने ऐसे अनसुने अन्याय का विरोध किया – क्या तुम उसके अवयवों का लास्य, उसका चंपाकली सा वर्ण नहीं देखते ? गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या, यह नहीं देखते कि एक के मूल्य में दो जीव पा रहे हो । और फिर यह मलिनता कितने काल तक रहेगी ? माणिक पर धूल रहने से क्या वह माणिक नहीं रहता" । उसके नेत्र और वर्ण भूधर के कान के समीप मुंह ले जाकर प्रतूल ने कहा – "शुद्ध रक्त को लजाते हो, किस राजकुमारी से कम है ? मैं जानता हूं चार मास पश्चात तुम उसके पांच सौ स्वर्ण मुद्रा पाओगे" ।[24]

मानवता का सबसे बड़ा पतन और क्या हो सकता है ? भूधर के घर से चक्रधर पुरोहित चक्रधर के घर जाने पर दिव्या की जो दुर्दशा हुई वह मानवता के पाप की करुण

कहानी है । दूध के लालच में लोग गाय के बछड़े को भी जीवित रखना चाहते हैं लेकिन दासी - पुत्रों का मूल्य उन बछड़ों के बराबर भी नहीं था । गाय बछड़े को स्तन देने के पश्चात ही स्वामी को दूध देती है, पर बेचारी दिव्या के शरीर पर तो सम्पूर्ण स्वामित्व उसके खरीददार का था । पुरोहित पत्नी दिव्या के पुत्र को इसलिए बेच देने का प्रस्ताव रखती है क्योंकि दिव्या अपने पुत्र के लिए दूध की चोरी करती थी । नारीत्व और मातृत्व का इससे बड़ा और भी अनादर हो सकता है भला ।

तत्कालीन समाज - व्यवस्था और धर्म संस्थानों में अनेक बाह्याडम्बर और अमानवीय थोथी मान्यताएं वर्तमान थीं लेकिन उसकी जड़ों में जो विषकीट लगा था उसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया । जो राज्य 'दासी' को आत्महत्या करने से रोक सकता है, उस पर स्वामी की सम्पत्ति को हानि पहुंचाने का अभियोग लगा सकता है । समाज में दास दासियों का निर्माण कर सकता है, धर्मस्थान उसे अपनी शरण में लेने से पूर्व उससे पति तथा स्वामी की स्वीकृति की मांग कर सकता है लेकिन सब मिलकर उस दूषित अमानवीय प्रथा को रोक नहीं सकते थे, और इसे न रोकने की मूल वजह थी ''शोषण की प्रवृत्ति'' जिसे यशपाल 'दिव्या' में उजागर करते हैं ।

जहां नारी शुरू से अंत तक अपने अधिकारों और अपने स्वत्व की रक्षा के लिये समाज के सामने न्याय की याचिका है । यशपाल दिव्या के माध्यम से एक ऐसी विशिष्ट नारी चरित्र का निर्माण करते हैं जो तमाम विषमताओं की प्रतिमूर्ति है । साथ ही इनको आत्मसात करती हुई वह पूरे समाज की विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है । यशपाल दिव्या को परीधि में रखकर सामाजिक संरचना और उसके मूल अंतर्विरोध को उजागर करते हैं ।

चारों दिशाओं से उपेक्षित, दिव्या का अन्ततः मारिश के मार्ग का हमसफर बनने के निर्णय में सामाजिक सुरक्षा और मर्यादा की स्वीकृति की आकांक्षा है, मारिश स्त्री के प्रति संवेदना, समता और अनुभूति को अपने आग्रह में रेखांकित करता है । उसमें न भोगवादी पुरुष के वर्चस्व की दृष्टि थी न अलौकिक संसार में ही मनुष्य की अमरता को आश्वासन की दृष्टि थी जो जीवन के नकार की दृष्टि न होकर उसके सार्थक स्वीकार की दृष्टि है । जो उच्छृंखल भोगवाद का विरोध कर समाज के बीच ही जीवन की राह ढूंढ़ता है ।

संदर्भ ग्रंथ

1. मधुरेश : दिव्या का महत्व, पृ 66, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद,2000
2. डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : आलोचना पूर्णांक अंक 24
3. मधुरेश : क्रांतिकारी यशपाल, पृ 28-29, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली
4. मधुरेश : यशपाल के पत्र पृ 47-48, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली
5. यशपाल : दिव्या की भूमिका पृ 5, विपल्लव प्रकाशन
6. वही, पृ 6
7. मधुरेश : दिव्या का महत्व पृ 111
8. यशपाल : दिव्या पृ 215
9. वही, पृ 109
10. वही पृ 158
11. वही पृ 156
12. वही पृ 136
13. वही पृ 155-56
14. वही पृ 136
15. वही पृ 155
16. शिवमंगल सिंह सुमन, संस्कृति संचिका, पृ 53
17. यशपाल : दिव्या पृ 137
18. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : दिव्या का वितर्क पक्ष, पृ 2
19. यशपाल : दिव्या पृ 26
20. वही, पृ 88
21. वही पृ 191
22. डॉ. महेन्द्र भटनागर : दिव्या विचार और कला पृ 61
23. यशपाल : दिव्या पृ 55
24. वही, पृ 124

पंचम अध्याय

यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय के कथा साहित्य में नारी संबंधी दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन

यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय का साहित्य : नारी संबंधी दृष्टि का तुलनात्मक अध्ययन

जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय ऐसे कथाकारों में से हैं जिन्होंने अपने साहित्य से स्त्री - मुक्ति की पृष्ठभूमि तैयार की है । एक ओर जहां इन्होने समाजगत रूढ़ियों और स्त्री को मात्र भोग्या समझे जाने वाले संस्कारों का विरोध किया, वहीं दूसरी और स्त्री को अपने स्वाधीन अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रेरित भी किया है । यद्यपि ये तीनों कथाकार नारी के आधुनिक स्वतंत्र स्वरूप के आग्रही रहे हैं, लेकिन वे नारी के मूल संस्कारों का संरक्षण भी समान रूप से चाहते हैं, ताकि नारी पुरुष की प्रेरणा, सहधर्मिणी और पथप्रदर्शिका भी बनी रहे । अज्ञेय के साहित्य में यशपाल की तुलना में यह आग्रह अधिक है । उनकी सभी नारी पात्र आदर्श बनकर पुरुष को प्रेरित करती है । चाहे वह शेखर एक जीवनी की 'शशि' हो या नदी के द्वीप की 'रेखा' । वे जीवन के अंतिम क्षण तक मिटती रहती हैं, पुरुष के व्यक्तित्व निर्माण में । लेकिन यशपाल के कथा - साहित्य में नारी पुरुष के लिए आदर्श तो बनती है लेकिन इस हद तक अपने आप को मिटाकर नहीं । समाज और व्यक्ति के प्रति अपना कर्तव्य समझते हुए भी वे खुद अपनी पहचान के लिए भी सजग और सचेत दिखती है, जो आत्मपीड़न और सहनशीलता का दर्शन जैनेन्द्र और अज्ञेय के नारी पात्रों में दिखता है, वह यशपाल में नहीं है । उनको नारी पात्रों में समाज, व्यक्ति और धर्म के अत्याचारों को चुपचाप सहने की प्रवृत्ति नहीं है, जैसे शेखर एक जीवनी की शशि में और जैनेन्द्र की कल्याणी में दिखायी पड़ती है । दोनों स्त्री पात्र क्रमशः अपने पति से मार खाकर भी विद्रोह नहीं करती उसे अपमान नहीं समझती हैं, जबकि यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की 'मनोरमा' में पत्नीत्व का यह पारम्परिक दासत्व देखने को नहीं मिलता है । यशपाल की नारी अपने स्वत्व के प्रति जैनेन्द्र और अज्ञेय के नारी पात्रों से अधिक सजग है, उसमें परम्परागत स्त्रीत्व नहीं है और न ही वह पुरुष की वर्जनाओं को मौन सहती रहती है । इतना ही नहीं जैनेन्द्र तो अंततः नारी को सद्गृस्थ के रूप में ही देखना चाहते हैं । वे नारी को जन्म से ही मां मानते हैं । उनका कहना है कि - ''वह जाति की मां है और हर अवस्था में मुक्ति की अधिकारिणी है ।[1] स्त्री की सार्थकता मातृत्व है, मातृत्व दायित्व है । वह स्वातंत्रय नहीं है ।[2] इस दृष्टि से जैनेन्द्र आधुनिक स्त्री स्वातंत्रय के नारे का विरोध करते है, उनकी दृष्टि में ''स्त्री स्वातंत्रय और कुछ नहीं, मातृत्व से बचने की चाह है'' ।[3]

इसमें संदेह नहीं है कि जैनेन्द्र का नारी के प्रति दृष्टिकोण वस्तुतः पारम्परिक और

दकियानूसी है । लेकिन कुछ विसंगतियों के बावजूद जैनेन्द्र ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने पहली बार स्त्री की आंतरिक अनुभूतियों, संघर्ष और सूक्ष्म नारी मनोभावों को साहित्य में जगह दी है, उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है । इतना ही नहीं वह नर - नारी के पारम्परिक पति - पत्नी संबंधों से इतर प्रेम संबंधों की मांग भी करते हैं जो आधुनिक है । यशपाल और अज्ञेय भी नर - नारी के खुले संबंधों का आग्रह करते अपने साहित्य में दिखते हैं । सामाजिक नैतिकता को बदलते युग के साथ परिवर्तित कर प्रासंगिक बनाने की कामना समान रूप से यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय में नजर आती है ।

अज्ञेय के '' शेखर एक जीवनी '' में अनेक नारियां प्रेमिकाओं के रूप में आती हैं । ''शीला '', ''शारदा '', '' शांति '' और ''शशि '' आदि । वैसे ही जैनेन्द्र के साहित्य में पति - पत्नी के संबंधों में प्रेमिका और प्रेमी का त्रिकोण साथ चलता रहता है और जैनेन्द्र इसे पूरक संबंधों की संज्ञा देते हैं । यद्यपि यशपाल और अज्ञेय के साहित्य में त्रिकोण प्रेम नहीं है, लेकिन स्वछन्द प्रेम अवश्य है । अज्ञेय स्त्रियों के लिए विवाह और नौकरी को जैनेन्द्र की तरह ही विरोधी कैरियर मानते हैं । नदी के द्वीप का भुवन अज्ञेय की ही बात को स्पष्ट करता है कि - मेरी बात दूसरी है, पुरुष के लिए विवाह और नौकरी विरोधी कैरियर नहीं है और स्त्री के लिये साधारणतया तो होते ही हैं ।[4] जबकि यशपाल नारी के सारे दुःखों के मूल में उसकी आर्थिक पराधीनता को ही मानते हैं, इसलिए नारी के आर्थिक स्वातंत्र्य की वो वकालत ही नहीं करते, अपने नारी पात्रों द्वारा उसे पाने के लिए संघर्ष भी करते हैं । यही वजह है कि यशपाल की नारी स्त्री - धर्म का निर्वाह करते हुए भी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान ही भागीदारी चाहती है ।

अज्ञेय के नारी पात्रों में बौद्धिकता का गहरा रंग है, जो यशपाल और जैनेन्द्र में कुछ हल्का है । लेकिन बौद्धिक नारी पात्रों में पारम्परिक संस्कार घुले हैं । गौरा का भुवन के लिए यह विचार – '' तुम मेरा भविष्य हो, तुम देवत्व की सांस हो, देवत्व की शिखा हो जिसे मैं अंतःकरण में पा लूंगी ।[5] बौद्धिकता का ही संकेत करते हैं । यशपाल के नारी पात्रों में ऐसी बौद्धिकता और पारंपरिकता का नहीं वरन् बौद्धिकता और आधुनिकता का सम्मिश्रण है । जैनेन्द्र और अज्ञेय के शिक्षित नारी पात्रों में परम्परा का मोह है, आस्था है, लेकिन यशपाल की नारी पुरानी रीतियों में न आस्था रखतीं हैं, न मोह ।

यशपाल ने प्राचीन मान्यताओं का खण्डन ही नहीं किया, अपितु नवीन मान्यताओं के अनुरूप स्त्री - पात्रों का निर्माण भी किया । पार्टी कामरेड की 'गीता' और मनुष्य के रूप की 'सीमा' प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवन - संघर्ष करते हुए कफलता पाती है । वैसे ही झूठा सच की कनक परम्पराओं को नकारने का साहस रखती है तभी वह कहती

है – "जितना निबाह सकती थी, निबाह दिया" ।5 जैनेन्द्र के या अज्ञेय के नारी पात्रों में मुखर विरोध का इतना साहस नहीं है, वे सहनशील हैं ।

यशपाल की नायिका विरोध का साहस रखती हे क्योंकि यशपाल मानते हैं कि अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह न करने के लिए और अपनी दयनीय स्थिति के लिए नारी भी कुछ हद तक जिम्मेदार है, ... स्वयम् स्त्रियां ही इस सामाजिक व्यवस्था को, जिसमें स्त्री की गुलामी और उसका पुरुष पर निर्भर रहना अनिवार्य है, मजबूत बनाए रखने की चेष्टा करती है ।[7] इसलिए यशपाल अपने पात्रों द्वारा स्त्री की गुलामी का मुखर विरोध करते हैं । क्योंकि वह मानते हैं कि – परम्परागत सामाजिक नैतिकताएं और रूढ़ियां आज की परिस्थिति में विशेष महत्व नहीं रखती है और उनमें युगानुकूल परिवर्तन अनिवार्य है । यशपाल मानते हैं कि मनुष्य समाज की परम्परागत विचारधाराओं का दास नहीं है । बल्कि विचारधारा, इसलिए उनके पात्रों में आधुनिक विचारों का समावेश है । दादा कामरेड की शैल, 'दिव्या' की दिव्या ऐसी ही आधुनिकायें हैं, जो स्त्री मुक्ति के उन विषयों पर बहस करती हैं जो आज चर्चा के केन्द्र में हैं । ऐसी प्रासंगिक चर्चा में अज्ञेय या जैनेन्द्र की नारी नहीं करती हैं ।

प्रेम सदा दूसरे को बड़ा करता है, उसे आधिपत्य नहीं चाहिए । उसे सेवा में तृप्ति है और यह सेवा की क्षमता प्रकृति से ही नारी विशेष को मिली है । पौरुष आक्रामक हो सकता है, पर स्त्री सहनशीला है । मेरा विश्वास है कि सहनशीलता की शक्ति की महिमा और गरिमा आगामीकाल में उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित होगी और पुरुष वशीभूत होगा ।[8] जैनेन्द्र का यह वक्तव्य वस्तुतः नारी के प्रति उनकी भावना को ही स्पष्ट करता है । जैनेन्द्र नारी से सहनशीलता की अपेक्षा रखते हैं । वे हर हाल में उसे सहनशील देखना चाहते हैं । उनकी दृष्टि में नारी प्रेम और सहनशीलता की अवतार है । अपने एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने स्वयम् इसकी पुष्टि की है कि "प्रेम को अक्षुण रखकर जो सहनशीलता व्यवहार में आती है वह पुरुष की आक्रामक शक्ति से अंत में बड़ी सिद्ध होती है । इस शक्ति क्षमता के कारण स्त्री को मैं अबला नहीं, बल्कि एक दृष्टि से बलशाली कह सकता हूं । मेरी रचनाओं में स्त्री सहती रहती है । मैं मानता हूं कि नारी का आदर्श उसी दिशा में है, किन्तु उसके भीतर भीरूता या दब्बूपन नहीं होना चाहिए । आखिर गांधी का सत्याग्रह क्या था ? वह अंत में अजेय सिद्ध हुआ तो क्यों ? अर्थात अहिंसक शक्ति हिंसक शक्ति से बड़ी सिद्ध होगी ।[9] 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' जीवन भर सहती जाती है और अपने अंतर का स्नेह उड़ेलती जाती है । वह सब सहन करके भी समाज को तोड़ना नहीं चाहती – "समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे ? या किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूं कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद टूटती रहूं ।[10] जैनेन्द्र के उपन्यास "कल्याणी"

की नायिका 'कल्याणी' दोहरे जीवन का अभिशाप ढोते हुए भी संतुष्ट है । कल्याणी का दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं है । वह डाक्टर है, साथ ही गृहणी भी, और इसी के बीच संघर्ष है । पति चाहता है कल्याणी धन अर्जित करे, साथ ही उसकी यह भी इच्छा है कि वह पत्नीत्व की प्राचीन मर्यादाओं में भी बंधी रहे । एक दिन भरी सड़क पर उसका पति कल्याणी को जूतों से पीटता है और कल्याणी मौन रह कर इसे सहती है, क्योंकि उसका कहना है कि – "पत्नीत्व को दासता कहते हो ? हां है यह दासता लेकिन वह साधना भी है, स्वेच्छापूर्वक अगर कष्ट न उठाया जाए तो प्राण का कोई उपाय नहीं । विशिष्ट वे हैं जो अपने सुखों का विसर्जन करेंगे, ताकि औरों को सुख मिले । स्त्री को निसर्ग से विसर्जन की पात्रता मिली है । सुख उसके लिए अनधिकृत है । उसकी पुकार मचाने से कुछ न होगा । कोलाहल बढ़ेगा, स्त्री को सीखना होगा वही सनातन सतीत्व वही उसकी चरम और एकांत साधना है । वही उसका धर्म है । उसका अलग स्वत्व कुंद न रहे, सब पति में खो जाए । स्मरण रहे पति व्यक्ति नहीं है वह प्रतीक है, इससे स्त्री को यह सोचने का अधिकार नहीं है कि पति सदोष हो सकता है, अपंग, विकलांग हो, जैसा हो पति 'पति' है । पति देवता है, स्मरण रहे कि वह देवता अपने - आप में नहीं, सतीत्व की महिमा के प्रभावमें ही वह देवता है । इसलिए व्यक्ति रूप में संदेह बनकर पति के स्थान में चाहे जो हो, जैसा भी अपूर्ण हो, सती उसी को देवता बना सकती है ।[11]

वस्तुतः जैनेन्द्र के स्त्री - संबंधी इन विचारों और आदर्शों में प्राचीनता की बू है जो उसे मनुष्य नहीं साक्षात देवता बनाते हैं । दरअसल जैनेन्द्र के सम्पूर्ण कथा - साहित्य की पड़ताल से नारी की कोई एक मुकम्मिल तस्वीर उभर कर सामने नहीं आती है, कहीं वे भारतीय आदर्श का उल्लेख कर सतीत्व को पतिव्रत से श्रेष्ठ मानते हैं वहीं दूसरी और उनकी नारी पात्रों में एक साथ पति और प्रेमी के लिए आकर्षण दिखाई पड़ता है ।

'सुनीता' 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' जैसे उपन्यासों में विवाहोपरांत प्रेम के अधिकार के प्रश्न को उन्होंने उठाया है और उनका मानना है कि सतीत्व या पत्नीत्व कोई कारागार नहीं है कि उसमें रहकर स्त्री प्रेम करने को स्वतंत्र है । 'सुनीता', 'सुखदा' और 'विवर्त' में बाहर की पुकार सुनकर नारी घर की चाहरदीवारी से बाहरआती है । पति की अनुमति उसे प्राप्त होती है, इतना ही नहीं 'सुनीता' में तो स्वयम् पति द्वारा परपुरुष के प्रेम का स्वांग करने के लिए प्रेरित की जाती है ।

यद्यपि जैनेन्द्र इस स्वांग को आगे नहीं बढ़ाते हैं, परंतु जो 'सुनीता' में करते - करते रुक गये उसे उन्होने 'व्यतीत' में पूरा कर लिया है । जहां प्रेम और विवाह में कोई विशेष संबंध नहीं दिखलायी देता है । वही उपन्यास 'सुखदा' में नायिका पति के शान्त और साधु चरित्र की वजह से उद्दाम प्रवृत्ति वाले "लाल " की ओर आगे बढ़ती है, इसी

तरह 'विवर्त' की मोहिनी टूटने लगती है परंतु पति अपनी उदारता से उसे सम्भालता है । एक ओर जैनेन्द्र परम्परागत सतीत्त्व का विद्रूप उभारते दिखते हैं, वहीं दूसरी त्रिकोण प्रेम को तरजीह देते हैं । 'त्यागपत्र' की मृणाल में आत्मपीड़न के भाव हैं । पति के प्रति कोई आक्रोश या विद्रोह भाव उसमें नहीं है । उसका यह आत्मपीड़न स्निग्ध और शान्त हैं । वहीं कल्याणी में जो संघर्ष है, वह बाहर और भीतर दोनों का संघर्ष है । संस्कार से कल्याणी पतिधर्म की समर्थिका और बाहर से विद्रोहिणी भी है । संस्कार की बेड़ियों से जकड़े रहने का लोभ ही अंततः उसके टूटने का कारण बनता है ।

जैनेन्द्र की सभी नारी अपने दाम्पत्य जीवन से असंतुष्ट दिखती हैं । यह असंतुष्टि ही पर - पुरुष की ओर उन्हें आकर्षित करती है जैनेन्द्र स्वयम् कहते हैं — ''बहते - बहते पानी कहीं रुक गया है तो उसे खुलना चाहिए बहिर्गमन मिलना चाहिए'' । और इस बहिर्गमन के निमित्त ही पति - पत्नी के बीच कोई प्रेमी आ खड़ा होता है ।[12] जैनेन्द्र मानते हैं कि समाज जितना सभ्य बनता जायेगा इस त्रिकोण प्रेम के प्रति उदारता भी बढ़ती जाएगी । उनके अनुसार ''पत्नी, प्रेयसी और पति, प्रेमी होना अनिवार्य है । इससे जीवन में सम्पूर्णता आती है'' । मेरा तो विचार है, भोग पर आधारित विवाह सीमित होता है — उसमें सम्पूर्णता की कमी होती है — उसी संपूर्णता की तलाश प्रयसी में होती है'' ।[13] जैनेन्द्र का मानना है कि नारी पति को पत्नीत्व देकर भी प्रेमी को स्नेह तो दे ही सकती है ।[14] जैनेन्द्र मानते हैं कि ''प्रेम मुक्त है, विवाह मर्यादित है, इसलिए प्रेयसी पत्नी नहीं हो सकती । नारी के लिए संभव यही है कि वह पत्नी एक की हो, प्रेयसी दूसरे की । वैसे ही पुरुष, पति एक का हो और प्रेमी, दूसरे का'' ।[15]

प्रसिद्ध नाटककार हेनरिक इबसन भी ''लव कामेडी'' में कहते हैं '' जिससे प्रेम करते हो, विवाह मत करो '' । प्रेमिका के लिए प्रेम इसलिए होता है कि वह पत्नी जो नहीं होती यानि मन प्राप्य के प्रति आकर्षण अनुभव नहीं हरता, अप्राप्य पर जाता है ।[16] अपने उपन्यास 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्र अप्रत्यक्ष रूप से बिना विवाह किये स्त्री - पुरुष के साथ रहने का मौन समर्थन करते दिखते उनके विचार खुद इसका एहसास कराते हैं :- ''विवाह यों तो प्रतिज्ञा है, पर सच कहिये तो सामयिक सुविधा से वह अधिक है ? प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं, प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है, अन्त में विवाह अब निर्वाह ही रहता है, ईर्ष्या से बांधे भी बंधा रहता है, विवाह टिकाने को ईर्ष्या जरूरी है, द्वार पर पहरे के लिए ईर्ष्या को बिठाकर ही मानों विवाह की सुरक्षा में रहा जा सकता है '' यह सब बेकार है, अड़चन भी है, उपयोग में अड़चन है और स्वतंत्रता में और पूर्णता में'' ।[17] जैनेन्द्र के इन विचारों में जहां मनोवैज्ञानिक सच्चाई हे वहीं आधुनिकता का बोध भी, जिस युग में जैनेन्द्र जी ने लिखना शुरू किया उस युग में नारी को एक प्रकाश स्तम्भ समझा जाता था । पुरानी मान्यताओं से परिचित होने के बावजूद उन्होने नारी को एक नये रूप

में प्रस्तुत किया । यों तो बदलते समय के साथ उनके नारी विषयक मान्यताओं में भी बदलाव क्रमशः नजर आता है । अपने नारी चित्रण में जैनेन्द्र अपने समय के साथ - साथ उससे कभी, काफी आगे नजर आते हैं । आज इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर भी जिन बातों को सहजता से स्वीकारने में हिचकिचाहट होती है, उसे अपने युग में लिखना जैनेन्द्र के लिए निश्चय ही साहसिक कदम है । वैसे भी नारी मन की आंतरिक पीड़ाओं और मनोभावों का जितना सूक्ष्म रूप रंग उनके साहित्य में बिखरा है वह अन्यत्र कम ही दिखायी पड़ता है । कभी ऐसा महसूस होता है कि उन्होंने अपने स्त्री - पात्रों का निर्माण हाड़ - मांस से नहीं वरन् बौद्धिक तत्वों से किया है – निरावरण सुनीता का हरिप्रसन्न से यह कहना – ''हरी, मुझे लो... मुझे पाओ'' या ''व्यतीत'' की 'अनीता' का जयन्त को चुनौती देते हुए यह कहना कि –''कहती हूं मैं यह सामने हूं । मुझे तुम ले सकते हो । समूची को जिस विधि चाहे ले सकते हो'' । आज भी साहसिक लगता है । जैनेन्द्र अपने अधिकांश उपन्यासों में नारी को देह - दान के लिए तत्पर दिखाते हैं, पर ऐसा घटित नहीं होता है । अक्सर इस अकुण्ठ, आत्मदान को प्रेमी स्वीकार नहीं कर पाता है, वस्तुतः यहां नारी पुरुष को वासना के विवर्त से निकाल उसे प्रकृतिस्थ करने के लिए देह - दान का प्रयोग करती दिखती है । स्त्री के हाथों यह अस्त्र पुरुष की हिंसक कामुकता को ही निरस्त्र करने के लिए है । 'सुनीता' में उसका पति श्रीकान्त, अपने दोस्त हरिप्रसन्न के मन की गांठ खोल कर उसे सही राह पर लाने के लिए ही स्वयम् अपनी पत्नी को ही नियोजित करता है । तो 'सुखदा' का पति अपने साथी के लगाम लगाने के लिए उसका उपयोग करता है । 'विवर्त' में भुवनमोहिनी का पति ही अपनी पत्नी से कहता है – 'तुम्हारा मित्र मेरा मित्र हो जाना चाहिए ' ।[18]

यह कहकर जैनेन्द्र स्त्री - पुरुष की स्वतंत्रता और समानता के प्रति जहां अपना समारात्मक पक्ष रखते हैं वहीं ऐसे सर्वसहिष्णु 'पति' पात्रों को चित्रित कर सामान्य वास्तविकता को नजरअंदाज भी करते हैं क्योंकि ऐसे पति जैनेन्द्रीय उपन्यास के बाहर नहीं मिलते हैं । जैनेन्द्र की दृष्टि में स्त्री पुरुष का संबंध ''आंशिक स्पर्धा और आंशिक समर्पण का है'' । एक में दूसरे पर विजय की भूख है किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की चाहना भी है ही । एक दूसरे को जीतेगा भी परंतु उसके ए मिटेगा कैसे नहीं ? इस प्रकार स्त्री - पुरुष के बीच विरोध भी सत्य है और समन्वित ऐक्य भी । 'परख' से लेकर 'दर्शक' तक जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों में मुख्य रूप से स्त्री - पुरुष के इसी आकर्षण और विकर्षण तथा संघर्ष और समर्पण की कहानी है । स्त्री - पुरुष के माध्यम से जो व्यक्त होता है, वह उन्ही में समाप्त नही है, स्त्री और पुरुष दोनों अपने आप में अधूरे हैं इसलिए पूर्णता की प्यास उन्हें एक दूसरे में अपनी पूर्ति और तृप्ति खोजने के लिए विवश करती है । पुरुष स्त्री से कट कर अपने को अलहदा रखे या स्त्री पुरुष की

दृष्टि स्पर्श मात्र से अपने आप को बचाने का प्रयास करे ऐसी पारम्परिक नैतिक वर्जनाओं को जैनेन्द्र ने कभी स्वीकार नहीं किया । "बीच में कोई रेखा खींचकर स्त्री को उधर और पुरुष को इधर रखकर ब्रह्मचर्य की सिद्धि होगी, यह मेरा विश्वास नहीं है । कहते हैं दोनों मिलेंगे वहां काम उपजा ही रखा है, किन्तु काम शक्ति भी है । महाशक्ति का ही इंगित कामशक्ति में है" ।[19] जैनेन्द्र का विश्वास है कि नारी की सार्थकता समर्पण और विसर्जन में है – "नारी भारतीय हो या इतर, अंतर में नारी है । मैं व्यक्तित्व के उपार्जन में नहीं विसर्जन में विश्वास करता हूं, और यह विसर्जन की क्षमता नैसर्गिक रूप से नारी विशेष को प्राप्त है " ।[20] कल्याणी उपन्यास में इसी विसर्जन को रूपायित किया गया है । दरअसल जैनेन्द्र की नारी भावना ऊपर से आधुनिक नजर तो आती है लेकिन उनमें परम्परागत स्त्रीत्व ही उभर कर सामने आया है । सभी आधुनिक नारी चरित्र अंत में अहिंसा, समर्पण को ही स्वीकार करती है । गांधीवादी अहिंसा को ही स्वीकार करती है । सुनीता अंत में अपने घर को ही समर्पित होती है । सुखदा भी अपने स्वछन्द आचरण पर पश्चाताप करती नजर आती है । भुवनमोहिनी भी अपने प्रेम पर समर्पित है । जैनेन्द्र नारी को सद्गृहस्थ रूप में देखना चाहते हैं । बाहर के सार्वजनिक काम में नारी के भाग लेने को वे महत्व नहीं देते, जबकि यशपाल की स्त्री सार्वजनिक कार्यों में बढ़ चढ़कर हिस्सा ही नहीं लेती एक दूसरे को प्रेरित और प्रोत्साहित भी करती है, जैसे दादा कामरेड की शैल की स्वतंत्रता को देख गृहस्थन यशोदा के मन में भी स्वाधीनता की चाहत जगती है । शैल उसे बढ़ावा देती हुई कहती है --" पुरुषों के संदेह और बेमतलब नाराजगी की परवाह न कर स्वयम् सोचना चाहिए । स्वयम् अपना व्यक्तित्व निर्माण करना चाहिए ।[21]

जबकि जैनेन्द्र नारी को घर की परिधि में ही बंधे रखना चाहते हैं, जो उसकी मुक्ति के दरवाजे को बंद करती है, जैनेन्द्र के पूरे कथा - साहित्य में नारी के पृथक अस्तित्व वस्तुतः व्यक्तित्व निर्माण की कहीं चर्चा नहीं हुई है, और हुई भी है तो अन्त तक निभाया नहीं जा सका है । अंततः वह घर - परिवार के तंग दायरे में ही सिमट कर रह गयी है । उनका मानना है कि -- "सार्वजनिक हित में उसका कम भाग नहीं है वह परिवार के बच्चों को सम्भालती है । अन्न को भोजन के रूप में प्रस्तुत करती है, घर के और दस काम सम्भालती है । यह सब भी क्या सार्वजनिक और सामाजिक हित का काम नहीं ? अथवा यह काम क्यों कम महत्व का है" ।[19] जैनेन्द्र स्त्री को किसी आंदोलन, सभा - सोसायटी या कौंसिल असेम्बली में नेतृत्व को अस्वीकार नहीं कर स्त्री क्षमता को दूसरी तरफ मोड़ना चाहते हैं उनका मत है – "हां उसके लिए मैं स्त्री को उत्साहित नहीं करूंगा " । इसका मतलब उसकी क्षमता का अपमान नहीं है, लेकिन क्षमता का लक्षण यह है कि वह भूखी नहीं होती । बाल - बच्चे या पड़ौस के काम में

वह क्षमता क्या संतोष नहीं पा सकती ? ताकि वह आसपास की स्थिति को सुधारने और बदलने में समर्थ हो ।[20]

इसलिए उनकी सुखदा जो घर को उपेक्षित कर बाहर सार्वजनिक काम में भाग लेती है अन्त में पश्चाताप करती दिखती है – "अस्पताल में हूं, अकेली हूं । बस नौकर एक साथ है, बच्चे हैं, स्वामी हैं, पर वे सब दूर हैं । उनकी याद करते डर होता है । किस मुंह से याद करूं ? उन्हें अपने ही हाथों से मैंने हटाकर दूर कर दिया है, अपने ही हाथों मैंने अपना अभाग्य बनाया है । कभी मेरी सोने की गृहस्थी थी, अब ठौर का भी ठिकाना नहीं है । सब उजड़ चुका है और अपने ही क्यों मैंने उजाड़ा है" ।[21]

परंतु बदलते परिवेश में नारी के प्रति ये भावनाएं अब मान्य नहीं रहीं । नारी अब परिवार की सीमाओं में बंधकर माता, बहन, पत्नी न होकर एक व्यक्ति भी है, उसकी अलग पहचान है, जिसका निर्माण वो स्वयम् करती है । यशपाल इसी नारी रूप के प्रशंसक हैं, जो आधुनिकता से मेल खाती है । दरअसल जैनेन्द्र के कथा - साहित्य में नारी के प्रति उनकी धारणाओं में अन्तर्विरोध है । कही वे पुरानी परम्पराओं को बहुत पीछे छोड़ और आगे बढ़ गये हैं जैसे स्त्री पुरुष के संबंध में पति - पत्नी के त्रिकोणात्मक प्रेम आदि के मामले में, लेकिन स्त्री के सामाजिक सन्दर्भ की ओर से वह उदासीन दिखायी पड़ते हैं । स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता , आर्थिक आत्मनिर्भरता, धार्मिक स्वतंत्रता आदि के बारे में उनके विचार पुराने है । जो स्त्री - मुक्ति को सही राह दिखाने में उपयोगी नहीं दिखते हैं । जबकि यशपाल का कथा - साहित्य नारी के स्वतंत्र अस्तित्व और अस्मिता के लिए प्रयत्नशील और अन्त तक संघर्षवान बना हुआ है । यशपाल पुरानी परम्पराओं रीतिरिवाजो और मानमर्यादाओं की बेड़ियों को उतार नारी को एक स्वतंत्र, सजग और सच्चे नारी स्वरूप में पेश करने में समर्थ हुए हैं ।

यशपाल की नारी न तो अपने को देवी मानकर पुरुष के अत्याचार को उदारता के साथ सहती है, न सहनशीलता का उदाहरण पेश कर जैनेन्द्र की नारी की तरह आत्मपीड़क बनी रहती है वे उन सारी परिस्थितियों का व्यक्तियों और संस्थाओं का विरोध करती हैं जो उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं । स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण में बाधा बनते हैं । चाहे वह पुरुष हो, समाज हो या धर्म । यशपाल के स्त्री पात्रों में अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध तीखे तेवर हैं । जबकि जैनेन्द्र की नारी अपने दमन के विरुद्ध आवाज नहीं उठाती है, यदि उठाती भी है तो पुनः अपने आप को समेटकर पलायन कर जाती है, जो ऐसा नहीं करती हैं वे सुखदा की तरह पश्चाताप करती रहती हैं । यशपाल नारी के इस रूप के समर्थ नहीं हैं ।

जैनेन्द्र की तरह ही अज्ञेय भी अपने नारी पात्रों को कहीं कहीं आत्मपीड़ित दिखाते हैं । 'शेखर एक जीवनी की' शशि ऐसी ही नारी है जो अत्याचार के विरुद्ध

आवज नहीं उठाती । उसी में संतोष पाती रहती है — शशि पति की मार से जो चोट खाती है उसी की पीड़ा में एक दिन घुल - घुल कर मर जाती है । वह स्त्री जाति के *इस सत्य से परिचित है कि नारी केवल उपभोग की वस्तु है । पति की करुणा भी* उसे प्राप्त नहीं है । स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है । इसलिए उसका मिटना ही अनिवार्य है, शशि कहती है — "मैं इसे अपमान नहीं समझती" ।[22] वह शेखर से कहती है — "जितना बड़ा दर्द होता है, उससे भी बड़ी लाचारी होती है, नहीं तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाय" ।[23] वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है ।[24] लेकिन नारी की इस निरीह छवि के अलावा भी उन्होंने ऐसे नारी पात्रों को गढ़ा है, जो हिन्दू समाज में सामंतवादी मूल्यों की शिकार स्त्री की परवशता और पारिवारिक घुटन के विरुद्ध नारी की स्वायत्तता स्वतंत्रता और प्रत्येक को वरण करने की क्षमता को इंगित करता है ।

नदी के द्वीप के रेखा का चरित्र आधुनिक भारतीय नारी का वह अभिनव और शक्तिशाली रूप है जो **ए वूमन हैज गिवन मी स्ट्रैंथ एण्ड एंफ्लूअंस** , अर्थात **नारी ने मुझे शक्ति और समृद्धि प्रदान की है,** को चरितार्थ करता है । "नदी के द्वीप" की रेखा के *माध्यम से अज्ञेय नारी का ऐसा भव्य चित्र प्रस्तुत करते हैं जो असाधारण है। अज्ञेय का* नारी के प्रति दृष्टिकोण को भी रेखा के माध्यम से भली भांति समझा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि रेखा के माध्यम से अज्ञेय स्वतंत्र व्यक्तित्व अस्तित्व संपन्न नारी की आकांक्षा करते हैं जो जागरूक, बुद्धिजीवी, स्वाभिमानी और प्रेरणादायी हो। सत्ताइस वर्ष *की उम्र में ही रेखा अपने पति से पृथक जीवन यापन करने का तब फैसला लेती है जब* उसे पता चलता है कि उसके पति हेमेन्द्र ने उससे शादी इसलिए की थी कि उसका चेहरा उसकी युवा मित्र से मिलता था। रेखा का यह निर्णय जहां उसके स्वाभिमानी स्वभाव की ओर इंगित करता हे वहीं अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूकता को भी प्रदर्शित करता है, *निश्चय ही यशपाल नारी चरित्रों से अज्ञेय की रेखा मिलती - जुलती सी प्रतीत*
होती है जो अपने पृथक अस्तित्व के प्रति जागरूक है।

रेखा के बारे में उसका पति हेमेन्द्र कहता है — 'रेखा और शादी, एक विकृत मुस्कान उसके चेहरे पर फैल गयी। एक शादी का ही अनुभव उसके लिए काफी होगा *प्यार ? लेकिन रेखा के लिए पुरुष मात्र ऐसा जहरीला जीव हो गया होगा - औरतों की* बनावट ही ऐसी होती है कि पुरुष से चोट खाकर वे सारी पुरुष जाति को बुरा समझ लेती हैं। उदार दृष्टि से तो सोच ही नहीं सकती, कि मर्द - मर्द में भेद होता है।[25]

जैसा रेखा सारे पुरुषों को एक ही सांचे में ढाल कर देखती है। यशपाल की *दिव्या भी पृथुसेन से चोट खाकर सम्पूर्ण पुरुष जाति को एक मानने लगती है जो स्त्री को*

सिर्फ भोग्या समझते हैं। शायद अज्ञेय और यशपाल यहां नारी की मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को इंगित करते हैं, जो स्त्री - पुरुष सबमें समान रूप से विद्यमान होता है। रेखा का चरित्र असाधारण नारी का हे तभी वह अपना सर्वस्व भुवन को समर्पित कर देती है लेकिन प्रतिदान नहीं मांगती, भुवन के विवाह के प्रस्ताव को भी यह कहकर ठुकरा देती हे कि ''मैंने तुमसे प्यार मांगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं मांगा था, न मैं वह लूंगी''। इतना ही नहीं वह भुवन को गौरा से विवाह के लिए भी दबाव डालती है। अंत में भुवन और गौरा के सुखद वैवाहिक जीवन के लिए हेमेन्द्र से तलाक लेकर डॉ. रमेश चंद से विवाह कर लेती है और डॉ. रमेश को सब कुछ बता देती है, कुछ भी छुपाती नहीं है। भुवन को भी एक पत्र में लिखती है कि – ''बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलायी, उसके क्या अर्थ थे। अब अगले महीने से श्रीमती रमेश चंद कहलाऊंगी – उसके भी क्या अर्थ हैं। मैं इतना ही सोच पाती हूं कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है कि मैं तुम्हारी हूं, केवल तुम्हारी, तुम्हारी ही हुई हूं और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूंगी''।[26] यहां अज्ञेय प्रेम और विवाह संबंध दोनों को पृथक रूप में देखते हैं जैसा कि जैनेन्द्र मानते हैं, और यशपाल भी। अज्ञेय नर - नारी के बीच प्रेम संबंधों को सिर्फ पति - पत्नी के चौखटे में जड़े रहने नहीं देते वरन् उससे इतर प्रेम संबंधों की स्वछंदता की मांग भी करत हैं। अतः अज्ञेय, जैनेन्द्र और यशपाल के साहित्य में परम्परागत नर - नारी संबंध चरमरा उठा है, चाहे वह यशपाल कृत 'मनुष्य के रूप' की मनोरमा हो या जैनेन्द्र की सुनीता या अज्ञेय की रेखा या शशि। इन सब में परम्परागत पति -पत्नी का प्रेम नहीं पनपता है बल्कि आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नये नैतिक मूल्यों की ओर कदम बढ़ते हैं।

अज्ञेय किसी भी सभ्यता की ह्रासोन्मुखता का मूल कारण मानते हैं कि उसमें नर - नारियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व की अवहेलना की जाती है, और परम्परागत मान्यताओं के बोझ से व्यक्ति के स्वतंत्र व्यक्तित्व को दबा दिया जाता है। रेखा द्वार अपने इस मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए वे नर - नारी के स्वतंत्र - स्वछंद व्यक्तित्व की ही आकांक्षा करते हैं – ''प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मार्ग भी उसके व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न - भिन्न हो सकता है तथा वह किसी बंधी हुई जीवन रीति या परम्परा का अंधानुसरण करने के स्थान पर नवीन लीक या नये मार्ग का अन्वेषण कर सकता है''। ''दूसरों की बनायी हुई लीकों की बात मैं नहीं सोच रही थी। व्यक्तित्व की अपनी लीकें होती हैं - एक रुझान होता है और उसके आगे व्यक्ति अपने वर्तमान और भविष्य के बारे में जो समझता है, जो कल्पना करता है, मनसूबे बांधता है, उनसे भी तो लीक बनती है –लीक कहिए, चौखटा कहिए, ढांचा कहिए या कह लीजिए दुनिया में अपना स्थान''।[27] कहना नहीं होगा के रेखा के इस वक्तव्य से अज्ञेय नारी के असाधारण रूप की आकांक्षा करते हैं जो लीक से अलग हो। जिसकी नींव

और इमारत स्वयम् उसकी अपनी बनाई हुई हो। जिसका चरित्र व्यक्तिवादिता, बुद्धिमत्ता, वाकपटुता और उदात्त प्रणय का सम्मिश्रण हो। शेखर एक जीवनी में तो अज्ञेय शशि के माध्यम से नारी को पुरुष की पूरक मानते दिखे हैं। शशि शेखर की प्रतिछाया है, वह दमित, उपेक्षित, भावकुल, खण्डित व्यक्तित्व की भी प्रतीक है जो संभाव्य रूप से शेखर का व्यक्तित्व भी है। अज्ञेय स्वयम् स्वीकार करते हैं "सबसे पहले तुम शशि इसलिए कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है। ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्ण कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है, जिस पर मंज मंजकर मैं कुछ बना हूं जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।[28]

शेखर के शशि के प्रति श्रद्धाभाव वस्तुतः लेखक का सम्पूर्ण नारी के प्रति सम्मान भाव है। जो पुरुष को जन्म देने से व्यक्तित्व निर्माण तक में अहम् भूमिका निभाती है, शशि की तरह टूट कर घुलकर भी निर्माण करती है – "स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है जो धरती को फोड़कर, धरती अपने आप नहीं फूलती - फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है। और वही एक माध्यम है। धरती, धरती ही है, पर वह भी समान सृष्टा है। क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन - पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है ? मैं अपने को मिटा नहीं रही – जिस शेखर को मैं देख रही हूं, उसके बनाने में मेरा बराबर का साझा होगा। इसलिए लेने - देने का कोई सवाल नहीं है और तुम्हारा यह झिझकना तथा कृतज्ञता जताना अपमान है"।[29]

अज्ञेय नारी के त्याग, सेवा और बलिदान को पुरुष की प्रगति और समृद्धि का मूल मानते हैं। शशि के रूप में वह नारी के उन्हीं दुर्लभ और शाश्वत गुणों की महत्ता पर प्रकाश डालते हैं जो परिवार समाज और राष्ट्र की धुरी है। अज्ञेय का मानना है कि सार्वजनिक स्थलों में कार्य करने वाली नारियों से इतर उन पीड़ित, व्यथित, निर्धन मजदूर स्त्रियों का भी व्यक्ति और समाज को बनाने में पर्याप्त योगदान होता है वरना शशि क्या थी? परित्यक्ता, दुर्व्यवहार और अपमान सहकर भी शेखर के जीवन को सही दिशा देने में समर्थ है, शेखर स्वयम् इसे स्वीकार करता है।

"शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैंने उसे जाना नहीं। आजीवन मैं विद्रोही रहा हूं, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूं..... एक दिन तुम्हारे मुख ने मुझे यह बताया कि लड़ना स्वयम् साध्य नहीं है। लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, कि विद्रोह किसी के विरुद्ध होना चाहिए - ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता - पिता, अपने

आप, प्यार कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके । तब मेरे विद्रोह को धार मिली। वह विरुद्ध हुआ, मैं प्रतिद्वंद्वी हुआ, किन्तु वह आधा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था, फिर.....फिर तुम्हीं ने सिखाया कि विरुद्ध लड़ना ही पर्याप्त नहीं है।

मैंने देखा सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है, कि एक अकेला समाज ही नही, जीवन आमूल दूषित है''।[30] अज्ञेय शेखर द्वारा नारी को मार्गदर्शिका के रूप में प्रस्तुत करत हैं जो जीवन को हर अटकाव और भटकाव से पृथक सार्थक गति देती है, वेगवान बनाती है।

अटक जाती है, जो तरी मनुष्य की
घाट अवघट पर, तो छिगुनी
शक्ति लगा नारी उसे फिर से
चला देती है।[31]

दिनकर की इन पक्तियों को ही शशि चरितार्थ करती है।

अज्ञेय शशि के माध्यम से नारी को केवल उपभोग मानने की, समाज की प्रवृत्ति का निषेध करते हुए 'शशि' के माध्यम से तीखा प्रहार करते हैं। शशि के ही शब्दों में – ''आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श .. किन्तु अभिमान की काई के नीचे आदर्श का पानी क्या अभी बहता है कि अंधकार *सड़ गया है?*

गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है, किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है, सत्य तो दूर करुणा भी देय नहीं रही और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गयी है, निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जहां चाहे, जैसे चाहे अपनी *तुष्टि की आग में होम कर दे, और इसकी कहीं अपील नहीं है क्योंकि स्त्री कभी* दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि ''और शादी किस लिए की जाती है? यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढांचा है''।[28] शशि का यह विद्रोह समाज के उन संस्कारों, परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति है, जो बदलते युग में *प्रासंगिक नहीं रही है। नारी अब उपभोग की सामग्री के रूप में पुरुषों को प्राप्य नहीं* होगी, उसने अब घर से बाहर की दुनिया भी देखा है इसलिए पुरुषों और समाज की ज्यादतियों को वह मौन रहकर नहीं सहती हैं मुखर हो गयी हैं। विद्रोह की क्षमता उसने अर्जित कर ली है। अज्ञेय की तरह यशपाल भी उन सामाजिक संस्कारों और सामंती आदर्शों का विरोध करते हैं, जो नारी को वस्तु रूप में इस्तेमाल करती है, क्योंकि नारी के प्रति दृष्टिकोण का एक सामाजिक महत्व है, और समाज की प्रगति में स्त्री - पुरुष दोनों

की साथ - साथ सक्रियता आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है कि हम पुराने बंधनों को तोड़ स्वस्थ और मानवियोजित आदर्शो की पुनर्स्थापना करें जो स्त्रियों की मुक्ति का रास्ता खोले और उसे पुरुषों के समान स्वतंत्रता और समानता उपलब्ध कराये। यशपाल का संपूर्ण कथा - साहित्य नारी मुक्ति और समानता के लिए कटिबद्ध है। यही वजह है कि यशपाल के कथा - साहित्य में जहां एक ओर नारी की पुरानी बेड़ियों को तोड़ने का आग्रह है वहीं दूसरी ओर वे अज्ञेय की तरह ही नये और प्रासंगिक मूल्यों की स्थापना के लिए कटिबद्ध है। ''बारह घंटे'' उपन्यास में तो वे पाठकों से ही अनुरोध करते हैं कि उपन्यास की नायिका विनी को केवल संस्कारगत नैतिकता के विश्वास से नहीं, आधुनिक परिस्थिति - बोध से प्रेरित चिंतन से भी देखने का यत्न करें। उनके शब्द हैं —

''पाठकों से अनुरोध हे कि विनी के प्रेम अथवा दाम्पत्य निष्ठा निबाह न सकने का कलंक देने का निर्णय करते समय विनी के व्यवहार को केवल परम्परागत धारणाओं और संस्कारों से ही न देखें। उसके व्यवहार को नर - नारी के व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता और पूर्ति की समस्या के रूप में तर्क तथा अनुभूति के दृष्टिकोण से, मानव जीवन व्याप्त प्रेम की प्राकृतिक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में भी देखें क्या नर - नारी के परस्पर आकर्षण अथवा दाम्पत्य संबंध को केवल सार्वजनिक कर्त्तव्य के रूप में देखना ही अनिवार्य है? इस समस्या को व्यक्तिगत जीवन की आवयश्कता और तृप्ति के दृष्टिकोण से भी देख सकना संभव नहीं''।[29]

इस संदर्भ में आलोचक मधुरेश का मानना है कि — ''इस रचना से यशपाल के संकीर्णमना आलोचकों के अश्लीलता संबंधी आरोपों का निराकरण ही नहीं होता बल्कि नर नारी के पारस्परिक आकर्षण के संबंध में नए परिस्थितिबोध के अनुसार आध्यात्मिक, नैतिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण भी प्राप्त होता है।

अज्ञेय की भी रचना 'शेखर एक जीवनी'' का शेखर और शशि के संबंधों में परम्परायुक्त नैतिक मूल्यों को न देखकर उसके विरुद्ध आवाज उठी, लेकिन इसी वजह से उसे ख्याति भी मिली। ''शेखर एक जीवनी'' में भारतीय नैतिक मूल्यों प्रति अनास्था की वजह से सामान्यतया भावनात्मक एकता स्थापित करने में बाधा आती है, परंतु अज्ञेय इस संबंध में अपना विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं — ''अगर नीतिशास्त्र से युगीन - चेतना नैतिकता के जरा भी इधर - उधर नहीं हटाना है तब तो नैतिक संघर्ष का चित्रण ही नहीं किया जा सकता है। और प्रचलित नैतिकता का समर्थन भर करने के लिए, कला की साधना कम से कम मुझे तो व्यर्थ मालूम होती है। मेरा विश्वास है कि किसी भी कला साधक को व्यर्थ मालूम होगी। क्योंकि कला का नैतिक प्रचलित रूप से कोई लगाव नहीं है, उसे तो नैतिकता के बुनियादी स्त्रोतों से मतलब है।

इतना ही नहीं हमारे युग में यह और भी महत्वपूर्ण बात हो गई है क्योंकि आप

स्वयम् मानेगें कि नैतिक रूढ़ियां जिस तेजी से इस युग में टूटीं वह बहुत दिनों से नहीं देखी गईं होगीं। जब नैतिकता के पुराने आधार नहीं रहते तब मानव कैसे नैतिक बना रह सकता है"।[34]

स्पष्ट है कि कतिपय विसंगतियों के बावजूद यशपाल, जैनेन्द्र और अज्ञेय ने नारी की स्वाधीनता के लिए अपने - अपने कथा - साहित्य से एक पृष्ठभूमि तैयार की है, जिसकी वजह से वर्तमान में स्त्री की मुक्ति की राह में कई सकारात्मक पक्ष उभर कर आये हैं। *अब नारी अबला नहीं रही, उसमें खुद सोचने, समझने और हस्तक्षेप करने का* आत्मविश्वास है।

बीती सदी में पुरुषों ने नारियों को आत्मनिर्णय के लिए प्रेरित किया, पुरुषों के सहयोग और समर्थन से वे जीवन के हर क्षेत्र में सफल भी हुई हैं पर सहयोग और समर्थन से प्राप्त सफलता ने अब स्त्री - पुरुष की प्रतिद्वदिता का रूप ले लिया है, जो सुखद नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ

1. जैनेन्द्र : नारी पृ 15 पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली
2. वही पृ 18
3. वही पृ 19
4. अज्ञेय : नदी के द्वीप, पृ 204, सरस्वती प्रेस, वाराणसी
5. वही पृ 104
6. यशपाल : झूठा सच भाग दो
7. जैनेन्द्र : नारी पृ 59
8. जैनेन्द्र : त्यागपत्र पृ 63
9. जैनेन्द्र : कल्याणी पृ 62
10. जैनेन्द्र : नारी पृ 16
11. वही : पृ 67
12. वही : पृ 65
13. वही : पृ 69
14. वही : जयवर्द्धन, पृ 61
15. वही : विवर्त, पृ 56
16. वही : अनाम स्वामी पृ 63
17. जैनेन्द्र : नारी पृ 59
18. यशपाल, दादा कामरेड पृ 67
19. जैनेन्द्र : नारी पृ 58
20. वही, पृ 59
21. वही : सुखदा पृ 29
22. अज्ञेय : शेखर दूसरा भाग, पृ 216
23. वही : पृ 228
24. वही : प्रथम भाग पृ 7
25. वही : नदी के द्वीप पृ 6
26. वही : पृ 51
27. वही : पृ 61
28. वही : शेखर भाग दो पृ 66
29. वही : पृ 91
30. वही : पृ 93
31. दिनकर : उर्वशी, पृ 54, सरस्वती प्रकाशन

32. अज्ञेय : शेखर भाग दो पृ 208
33. यशपाल : बारह घंटे उपन्यास का आमुख

उपसंहार

स्त्री को सदियों से आदर और श्रद्धा के साथ देखने की बातें कहीं जाती रही हैं, पर बर्ताव हमेशा बंधुआ मजदूर की तरह ही होता आया है। आज भी कहा जाता है -''स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं है'' मगर यह एक चाल है।

उदारता के तमाम पाखंड के बावजूद स्त्री और स्त्री समस्या का परिधिकरण होता रहा है। स्त्री-पुरुष की दैहिक भिन्नता इतनी स्पष्ट है कि उसे नकारा ही नहीं जा सकत। देह के कारण ही वह जन्म देती है, देह के कारण ही वह वेश्या हो सकती है। यशपाल की नारीवादी चेतना 'दिव्या' में स्त्री देह पर नया विमर्श प्रस्तुत करती है। पुरुष हमेशा गर्व से सिर ऊंचा कर कह सकता कि वह कभी अपने देह बेचने को मजबूर नहीं हुआ, कोई उसे वेश्या नहीं बना सका, लेकिन क्या स्त्री कभी ऐसा दावा कर सकती है ? जौहर में जलने वाली स्त्री को अपने पवित्रता के हवन का ही तो भय था ? सीता की अग्निपरीक्षा क्यों ली गई ? यह कैसी 'पवित्रता' है जिसे तमाम उम्र नारी को ही ढोना पड़ता है और यदि वह इसे बचा नहीं पाती तो दिव्या की तरह ही लांछित होना पड़ता है, दर दर की ठोकर खानी पड़ती है और यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि अपनी स्वतंत्रता के लिए कटिबद्ध स्त्रियां अंततः वहीं जा पहुंचती हैं जहां वे स्वयं की रह पाती हैं, न परिवार की न समाज की, तब उनके पास अपनी विवशता के सिवाय कुछ नहीं रह जाता और स्त्री के ये हालात ही पुरुषवादी समाज को संतोष देते हैं। दिव्या के संदर्भ में यह बखूबी देखा जा सकता है। व्यक्ति, परिवार, समाज और धर्म से क्रमशः छली, उपेक्षित, उत्पीड़ित, त्रस्त और निराहृत होती राजकुमारी दिव्या अन्ततः वेश्या 'अंशुमाला' बनने को मजबूर होती है सिर्फ इसलिए क्योंकि वह वर्णव्यवस्था के बंधनों से परे स्वतंत्र और निर्बद्ध जीना चाहती थी। द्विज कन्या होते हुए भी दास पुत्र पृथुसेन को जीवन सहचर बनाना चाहती थी। उसकी इसी चाह ने दिव्या के शांत जीवन में तूफोन खड़ा कर दिया।क यों तो सही अर्थों में ''दिव्या'' स्त्री-विमर्श का उपन्यास है, पर अपनी बुनावट, चारित्रिक-संघर्ष, द्वंद्वात्मकता और भाव सबलता के कारण यह ऐसा उपन्यास है जिसमें अपने समय और समाज की व्यापक हलचल को भी महसूस किया जा सकता है। प्रस्तुत उपन्यास में यशपाल तत्कालीन युग की, समाज की थोथी मान्यताओं, वेशभूषा, आभरण, शस्त्र, युद्ध, उत्सव, मद्यपान, तांत्रिक विद्या, नृत्य संगीत, वेश्यागमन, वर्णाश्रम धर्म, बौध संघ, कुलीन जीवन, अभिजात वर्ग का शोषण, शोषित वर्ग की दयनीय अवस्था, व्यापारी वर्ग के कारनामे और दास-दासियों की स्थिति का चित्र अत्यंत सुसंगठित सजीवता के साथ उद्घाटित करते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का केन्द्रीय चरित्र दिव्या अपने जीवन में एक साथ कई जिंदगियां

जीती है कभी राजकुमारी की, कभी दासी और कभी वेश्या की। यह उपन्यास दिव्या के संघर्ष, उसकी यातना, उसके अर्न्तद्वंद्व और अंत में उसकी वास्तविक जमीन की सही शिनाख्त करता है। इसलिए भी यह कहना बड़ा सहज हो जाता है कि यह उपन्यास स्त्री-विमर्श को प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत उपन्यास दिव्या के माध्यम से जिस स्त्री-विमर्श को प्रस्तुत करता है, उसका सूत्र 'सिमोन द बोउवा' के 'द सेकेण्ड सेक्स' और महादेवी वर्मा की श्रृंखला की कड़ियां के साथ-साथ बहुचर्चित नारीवादी लेखिका नाओमी वूल्फ की फायर विद फायर से भी जुड़ता है। जिसमें नाओमी नारीवादी आंदोलन को एक नये मोड़ पर खड़े होने की चर्चा करते हुए कहती है कि , "अब नारीवाद आदर्शवादिता को छोड़ व्यवहारिकता की ओर अग्रसर है। उग्रतः प्रतिस्पर्द्धा, स्वतंत्रतता तथा अलगाव की इच्छा पुरुषों की ही नहीं वरन स्त्री स्वभाव का भी गहन हिस्सा है। गौर से देखें तो यह कोई नई विचारधारा नहीं है दिव्या में यशपाल नारी को वस्तु से व्यक्ति रूप में प्रतिष्ठित करते नजर आते हैं। दिव्या व्यक्तिगत तौर पर उन सब व्यक्ति और संस्था का विरोध करती है जो उसके अस्तित्व को मिटाकर उसका उपभोग करना चाहता है। लेकिन जो उसके व्यक्तित्व का सम्मान करता है उसके गुण और दोष दोनों को स्वीकार करता है, दिव्या उसे स्वीकार करती है। दिव्या पुरुष का विरोध नहीं करती जो वर्तमान नारीवादी आंदालन की अप्राकृतिक अतिवादिता है। वह पुरुष की वर्चस्ववादी और सामंती मानसिकता का विरोध करती है। यदि ऐसा होता तो वह मारीश को कभी नहीं अपनाती। वर्तमान नारीवादी आंदालन की कार्यकर्ता आज अतिरिक्त उत्साह में यह भूल गई हैं कि हमें रोग हटाना है रोगी को नहीं। हमें सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों से लड़ना है पुरुष की अमानवीय और अव्यवहारिक मानसिकता के विरुद्ध जंग करनी है पुरुष के विरुद्ध नहीं और भारत में तो स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए स्वयं पुरुषों ने ही जागरूक किया है। पश्चिम में भले नारी मुक्ति आंदोलन की शुरूआत नारियों ने की लेकिन भारत में यह आंदालन अपने प्रारंभिक अवस्था में पुरुष प्रेरित रहा। इतिहास साक्षी है कि गुलामी के खिलाफ संघर्ष को या सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ जिन मुद्दों पर स्त्री पुरुष साथ मिलकर चले हैं हमें वहां सफलता अवश्य मिली है। आज हमें फिर मिलकर नारी मुक्ति के लिए संघर्ष करना है क्योंकि प्रतिद्वंद्विता की परंपरा भारतीय नहीं है और न ही इसका कोई औचित्य है।

पश्चिम का वीमैन लिव भारतीय नारी मुक्ति का पर्याय इसलिए भी नहीं हो सकता क्योंकि पश्चिम के विकसित समाज में स्त्री अपनी पहचान के ऐसे मसलों से उलझी है जो विकसित समाज की समस्याएं हैं। जबकि भारतीय स्त्री एक पिछड़ हुए समाज और विकासशील समाज दोनों समाजों के प्रश्नों से दो-चार है, जो ज्यादा चुनौती भरा कार्य है।

दिव्या में यशपाल नारी मुक्ति से जुड़े तमाम प्रासंगिक मुद्दों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ते दिखाई पड़ते हैं। इसलिए भी दिव्या का उपरी कलेवर जितना ऐतिहासिक

है आंतरिक परिदृश्य उतना ही समकालीन है। दरअसल स्त्री का जीवन इतना अधिक पूर्व निर्धारित रहा है कि वर्ण और जातिगत व्यवस्था से मुक्ति के लिए अतीत की स्मृतियों की पड़ताल जरूरी हो गई है। शायद इसलिए भी दिव्या में यशपाल अतीत में जाते हैं, *वस्तुतः अतीत में जाना भविष्य में जाने का विलोम परागमन है और उनकी इस प्रक्रिया में* भविष्य गढ़ने के तत्व पूरी शक्ति से मौजूद हैं। प्रस्तुत उपन्यास का प्रतिपाद्य यह भी है कि समाज और व्यक्तियों की नैतिकता भौतिक और आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होती हैं। उपन्यास में नैतिकता तथा धर्म संबंधी भावना शाश्वत नहीं है। द्विज कन्या दिव्या पुरुष के *विश्वासघात से कलंकिनी बनती है वह महल त्यागकर दासी के रूप में दारा बनती है फिर* नर्तकी के रूप में अंशुमाला। वह वेश्या बनने को भी तैयार हो गई परंतु नैतिकता तथा धर्म की आड़ लेकर अभिजात्य कुलवासियों ने उसे वेश्या नहीं बनने दिया। अंत में दिव्या रूद्रधीर तथा पृथुसेन का प्रस्ताव ठुकराकर मारीश का आश्रय ग्रहण करती है। इस तरह *समाज व्यवस्था, न्याय व्यवस्था और प्रेम में परिवर्तन आता है। दिव्या जिन सामाजिक* शक्तियों से जूझती है, मठों का पाखंड और रूढ़ियां सामाजिक दृष्टि से जितनी उस समय थीं उतनी ही आज हैं।

शोध प्रबंध में अध्ययन किए गए उपन्यासों की सूची

परिशिष्ट - 1

यशपाल के उपन्यास एवं अन्य पठित साहित्य

उपन्यास	सन	प्रकाशन
दादा कामरेड	1941	विपल्लव प्रकाशन, लखनऊ
देशद्रोही	1943	
दिव्या	1945	
पार्टी कामरेड	1947	
मनुष्य के रूप	1949	
अमिता	1956	
झूठा सच भाग 1	1958	
झूठा सच भाग 2	1960	
बारह घंटे	1963	
अप्सरा का श्राप	1964	
तेरी मेरी उसकी बात	1973	
मनुष्य के सच	1977	

आत्मकथा — विपल्लव प्रकाशन, लखनऊ

सिंहावलोकन	प्रथम भाग	1951
	द्वितीय भाग	1952
	तृतीय भाग	1955

कहानी संग्रह

पिंजरे की उड़ान	1939

ज्ञानदान	1943	विपल्लव प्रकाशन, लखनऊ
तर्क का तूफान	1956	〃 〃 〃
भस्मावृत चिंगारी	1946	
धर्मयुद्ध	1950	
सच बोलने की भूल	1964	〃 〃 〃
खच्चर और आदमी	1964	
गांधीवाद की शव परीक्षा	1961	〃 〃 〃
चक्कर क्लब	1963	
देखा सा या समझ	1959	〃 〃 〃

अन्य

			विपल्लव प्रकाशन, लखनऊ
बात बात में बात		1950	
मार्क्सवाद		1954	〃 〃 〃
यशपाल के पत्र	मधुरेश	1977	〃 〃 〃
यशपाल अभिनंदन अंक		सप्तसिंधु	1956

अज्ञेय के उपन्यास और अन्य पठित साहित्य

आत्मनेपद	1960	ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली
शेखर एक जीवनी भाग 1	1941	सरस्वती प्रकाशन, वाराणसी
भाग 2	1944	〃 〃 〃
नदी के द्वीप	1942	
अपने अपने अजनबी	1961	〃 〃 〃

जैनेन्द्र के उपन्यास

कल्याणी	1939	पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
विवर्त	1953	
व्यतीत	1953	" "
जयवर्द्धन	1956	
अनंतर	1968	" "
परख	1929	
सुनीता	1933	" "
त्यागपत्र	1937	" "

हिन्दी ग्रंथ

मध्यकालीन भारत नये आयाम : हरबंस मुखिया, राजकमल प्रकाशन, १९९८
मानव मूल्य और इतिहास : धर्मवीर भारती, साहित्य भवन, प्रयाग
प्रगतिशील साहित्य के मानदंड : रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा
प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं : रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
प्रगति और परम्परा : रामविलास शर्मा, किताब महल, दिल्ली
स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य : रामविलास शर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, १९५६
साहित्य की समस्याएं : शिवदान सिंह चौहान, आत्माराम एंड संस, दिल्ली,१९५३
भारतीय वांग्मय : डॉ. नगेन्द्र, साहित्य सदन, झांसी, प्रथम आवृत्ति २०१५ विक्रमी
क्रांतिकारी यशपाल समर्पित व्यक्तित्व संपादक मधुरेश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७९
यशपाल की कहानियां पुनर्मूल्यांकन की कोशिश : सदाशिव द्विवेद्वी
प्रेमचंद की परंपरा और यशपाल : मधुरेश
साहित्य सिद्धांत और समालोचना : डॉ. देवीप्रसाद गुप्ता, आत्माराम एंड संस, १९७८
आधुनिक साहित्य वेदना के नये आयाम : सुषमा भटनागर, पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली

जैनेन्द्र के उपन्यास - परमानंद श्रीवास्तव
जैनेन्द्र का व्यक्तित्व कृतित्व- पुनर्मूल्यांकन राजस्थान साहित्य अकादमी
हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना - डा. सुरेश सिन्हा
हिन्दी उपन्यास में नारी चित्रण - बिन्दु अग्रवाल
हिन्दी उपन्यास युग चेतना और पाठकीय संवेदन - डॉ. मुकुन्द द्विवेदी
भारतीय नारी अस्मिता की पहचान - उमा शुक्ल
भारतीय समाज में नारी - नीरा देसाई
भारत की सास्कृतिक एवं साहित्यिक संक्रांति में नारी की भूमिका - भारती कुमारी सिंह
भारतीय नारी विविध आयाम - संपादक चन्द्र मोहन अग्रवाल
स्त्री शक्ति - विनोबा भावे
भारतीयता की पहचान - केशवचन्द्र वर्मा
भारतीय समाज - इन्द्रदेव
मानव और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे
बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य - डा. नजेन्द्र नाथ उपाध्याय
बौद्ध धर्म दर्शन - आचार्य नरेन्द्रदेव
मज्झिम निकाय - हिन्दी अनुवाद - राहुल सांकृत्यायन
भारतीय दर्शन - पंडित बलदेव उपाध्याय
बौद्ध दर्शन मीमांसा - वही
बौद्ध धर्म में विकास का इतिहास - डॉ गोविन्द चन्द्र पाण्डे